# प्रथम अध्याय

# ''हिंदी साहित्य तथा आँचलिक उपन्यासों में दलित जीवन का चित्रण''

# प्रथम अध्याय

# "हिंदी साहित्य तथा आँचलिक उपन्यासों में दलित-जीवन का चित्रण"

1) साहित्य और समाज जीवन का संबंध ।

2) साहित्य और समाज का संबंध ।

3) आँचलिकता का स्वरुप ।

4) समाज की निर्मिती एवं दलित का स्थान ।

5) 'दलित' शब्द की व्याख्या ।

6) दलितों की वर्तमान काल की स्थिति ।

7) दलितोध्दार का कार्य ।

8) दलित जीवन-चित्रण ।

9) दलित-चेतना का निर्माण ।

10) निष्कर्ष ।

# प्रथम अध्याय
# "हिंदी साहित्य तथा आँचलिक उपन्यासों में दलित जीवन का चित्रण"

**प्रस्तावना :-**

हिंदी साहित्य का स्वरुप विस्तृत है। आज हिंदी साहित्य का भाव एवं शिल्प की दृष्टि से विकास हुआ है। सामाजिक प्रतिबध्दता साहित्य की विशेषता है। परिणामतः साहित्य का समाज से अटूट रिश्ता बना है। जैस-जैसे समाज उन्नत होगा वैसे-वैसे साहित्य भी विकसित होगा। यह सच है कि साहित्य के बिना समाज अधुरा है, तो समाज के सिवा साहित्य की निर्मिती नहीं हो सकती। हिंदी साहित्य में आँचलिकता का प्रवेश साहित्यिक उन्नति का प्रतीक ही है। आँचलिक उपन्यासों ने हिंदी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। आँचलिक उपन्यासों में किसी अँचल की, किसी गाँव की कथा हो सकती है। इसके पात्र देश के किसी भी अँचल के पात्र हो सकते है। हर एक इन्सान अपने परिवेश के साथ जीता है उसी में उसका निर्माण और विकास होता है। वह जिसे परिवेश में रहता है वही उसकी आँचलिकता बन जाती है। मानव की रहन-सहन, आचार-विचार, धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ उसके मनोभावों को प्रभावित करती है।

**1) साहित्य और समाजजीवन का संबंध :-**

साहित्य और समाज का संबंध 'अनादिकाल' से चला आ रहा है। रामायण में वाल्मीकीं ने एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था का चित्रण करके अपने दृष्टिकोण के अनुसार समाज के विभिन्न पहेलुओं की विवेचना करते हुए यह सिध्द किया है कि मानव समाज किस पथ का अनुसरण करने से पूर्ण संतोष और सुख का उपभोग करता है। तुलसीदास ने भी अपने समय में उन सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर राम के परिवार को और उसके राज्य को आदर्श रुप में उपस्थित किया है। यहाँ स्पष्ट है साहित्यिकारों ने साहित्य के माध्यम से आदर्श समाजरचना

का प्रारुप स्पष्ट किया है। उनकी रचनाएँ सामाजिकता, सामाजिक प्रतिबध्दता एवं उपयोगिता की दृष्टि से आज भी महान रही है इसका कारण साहित्य और समाज का संबंध ही है ऐसा लगता है।

समाज की व्यवस्था, वातावरण, रीति-नीति, धर्म-कर्म तथा सामाजिक शिष्टाचार या लोकव्यवहार से ही समाज के आदर्श साहित्य में लिखे जाते हैं। साहित्यिकार उसी समाज की प्रतिनिधित्व करता है। जिसमें वह जन्म लेता है. वह अपनी समस्याओं का सुलझाव, अपने आदर्शों की स्थापना, अपने समाज के आदर्शों के अनुरुप ही करता है। उसीमें उसका शारीरिक, बौध्दिक और मानसिक विकास होता है। इसप्रकार साहित्यिकार जहाँ जन्म लेता है, वहाँ का चित्रण करता है। वह समाज सुधार की भावना से प्रेरित होकर एक आदर्श साहित्य की स्थापना करता है। साहित्य में वह यथातथ्य चित्रण करके दूर हट जाता है, समाज उस चित्रणपर विचार या चिंतन करने के लिए विवश होता है। उनकी रचनाएँ कालातीत एवं अमूल्य धरोहर बनती है। इसके विपरीत कुछ ऐसे साहित्यिकार होते है जो समाज का यथातथ्य चित्रण करके समाज के सामने कोई भी आदर्श रखने में असमर्थ होते है। ऐसे साहित्यिकारों को समाज भूल जाता है। उनकी कृतियाँ अल्पजिवी बनकर समय के प्रवाह में समाप्त हो जाती है।

साहित्य समाज का प्रतिबिंब है, लेकिन कुछ साहित्यप्रेमी इस प्रतिबिंब में अपनी रसिक प्रवृत्ति के सिवा और कुछ भी नहीं देखना चाहते। वे इस बात का विरोध करते है कि साहित्य में सौंदर्य के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का चित्रण नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनकी दृष्टि में साहित्य केवल हमारे मनोरंजन का साधन है न उपयोगिता का माध्यम। ऐसे साहित्यप्रेमी रसिकों के बारे में डा. रामविलास शर्मा ने कहा है कि - ''यदि रसिक गण दर्पण में अपना ही प्रतिबिंब देखना चाहते है, तो उन्हें साहित्य की परिभाषा बदल देनी चाहिए। परिभाषा बदलने के बाद कहना चाहिए कि साहित्य वह दर्पण है, जिसमें समाज के उन विशेष लोगों की शक्ल दिखाई देती है, जो दुपल्ली टोपी लगाए, पान खाए, सुरमा रचायें इस दुनिया से दूर नायिका भेद के संसार में विचरण किया करते हैं। इन साहित्य - मर्मज्ञों के हृदय इतने ''सहृदय'' हो गए है कि जिस बात से चालीस करोड जनता के हृदय को ठेंस लगती है, वह उनके मर्म को

छू भी नहीं पाती। इनका कुसुम-कोमल हृदय नकली गर्मी से उगनेवाले पौधों की तरह एक कृत्रिम साहित्य की उत्तेजना पाकर ही विकसित होता है।''[1]

साहित्य और समाज के बारे में विचार करने पर यह बात समझ में आती हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। मानव सामाजिक समस्याओं, विचारों तथा भावनाओं का जहाँ वह सृष्टा हैं वहाँ उनसे वह प्रभावित भी होता है। साहित्यिकार के व्यक्तित्व का निर्माण और उसकी अनुभूति तथा कल्पना एक सामाजिक देन हैं। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं, क्योंकि यदि मानव-प्रकृति को हम मूलरुप से सामाजिक मानते है, तो निश्चय ही कला और साहित्य के विभिन्न उपकरणोंद्वारा अभिव्यक्त उसकी भावना और अनुभूति भी मूलरुप से सामाजिक और समाज की देन है। साहित्य की विजय शाश्वत होती है और शस्त्रों की विजय क्षणीक। अंग्रेज शस्त्रों द्वारा भारत को दासता की श्रृंखला में इतनी दृढतापूर्वक नहीं बाँध सके जितना कि अपने साहित्य के अस्त्र से। हमारे साहित्य के रुप में भी परिवर्तन करने में सफल हो सके। आज उसी अंग्रेजी का प्रभाव है। हमारे सौंदर्य संबंधी विचार, हमारी कला का आदर्श, हमारा शिष्टाचार आदि सब युरोप से प्रभावित ही रहें हैं। युनान ने अपनी कला द्वारा संपूर्ण युरोपीयन जीवन को प्राचीन काल से लेकर आज तक प्रभावित कर रखा है। यह समाजपर साहित्य के प्रभाव का प्रतीक हैं। साहित्य से समाज जीवन में शिव की भावना स्थापित होती है। इसके संदर्भ में टॉलस्टॉय का कथन विचारणीय है - ''साहित्य का उद्‌देश बौध्दिक क्षेत्र और मानसिक क्षेत्र से उस सत्य की स्थापना करना हैं, जिसका उद्‌देश मनुष्य मात्र में कल्याणकारी एकता को स्थापित करके भगवान की प्रेमपूर्ण बादशाहत को कायम करना है।''[2] साहित्य में सत्य-शिव-सुंदर की भावना निहीत रहती हैं। यही साहित्य समाज में शाश्वत सत्य की स्थापना करने में सफल रहता है।

साहित्य में प्रत्येक युग की विशेषताएँ वर्तमान रहती है। उन विशेषताओं के आधारपर ही हम साहित्य के इतिहास को, विभिन्न युगों में बाँट सकते हैं। किसी भी समाज की सामाजिक परिस्थितियाँ उस समाज के साहित्य के स्वरुप निर्धारण का कारण होती है। अंग्रेजी का स्वच्छंदतावादी (Romantic) साहित्य इंग्लैंड में जागृत हुई मध्य श्रेणी के लोगों की व्यक्तिवादी

विचारधारा का परिणाम है तथा रुस की क्रांति के कारण युरोपीय साहित्य में प्रगतिवादी, साम्यवादी विचारों का प्रसार हुआ। निस्संदेह साहित्य में सांस्कृतिक तत्व भी वर्तमान हैं, परंतु उन दिनों के सामाजिक वातावरण में व्याप्त व्यक्ति और व्यक्ति के अधिकारों की चर्चा तथा उसके साथ ही बदलती हुई समाज की आर्थिक परिस्थितियॉ इस परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है।

साहित्य हमारे अमूर्त और अस्पष्ट भावों को विचाररुप देकर उनको परिष्कृत कर हमें प्रभावित करता है। समाज का नेतृत्व वहीं कर सकता है जिसके पास परिष्कृत विचार हो। यह सच है कि सक्षम नेतृत्व साहित्य चिंतन से, पठन से ही मिला है। उन्होंने समाज परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। साहित्य विचारों को कार्यरत बनाता है, तथा सामाजिक संगठन और जातीय एकता की वृध्दि में निरन्तर योग देता रहता है। हम अपने विचार को अमूल्य समझते है। उन पर हमें गर्व होता है और साहित्यिकार हमारे उन्हीं विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए हम उन्हें अपने जातीय सम्मान और गौरव के संरक्षक मानकर यथेष्ट सम्मान देते हैं। शेक्सपिअर और मिल्टन पर अंग्रेजों को गर्व है, तो कालिदास, सूर और तुलसी पर हमें गर्व हैं क्योंकि उनका साहित्य हमें एक संस्कृति और एक जातीयता के सूत्र में बाँधता है। अपनी किसी सम्मिलित वस्तु पर गर्व करना जातीय जीवन और सामाजिक संगठन का प्राण है। जिसप्रकार साहित्य होता है उसी प्रकार मनोवृत्तियाँ बन जाती है और उन्हीं के अनुकूल हम कार्य करने लगते हैं। इसप्रकार साहित्य केवल हमारे समाज का दर्पण मात्र न रहकर उसका नियामक और उन्नायक भी होता है।

समाज व्यक्तियों का सामूहिक रुप है। सामाजिकता, सामूहिकता उनकी प्रवृत्ति है। व्यक्ति समाज का घटक है। समाज के कारण व्यक्ति की रक्षा होती है, तो व्यक्ति से समाज विकसित होता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक घटक है। लेखक सामान्य मनुष्य से अलग नहीं हो सकता। व्यक्ति भिन्नता के कारण अनुभूति का प्रकटीकरण सही ढंग से नहीं होता। सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा साहित्यकार संवेदनशील चेतीत होते है। परिणामत: साहित्य के निर्माण में वे सफल होते है। अर्थात साहित्य की उत्पत्ति लेखक की अपनी संवेदना,

मानसिकता और उनपर प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरुप से प्रभाव डालनेवाले परिवेश से होती है। साहित्यिकार अपने परिवेश से प्रभावित होता है। वह अपनी रचना के लिए विषय, वस्तु, भाषा और रुप परिवेश से ही प्राप्त करता है। संक्षेप में लेखक का व्यक्तित्व अपने परिवेश से कभी-भी पृथक नहीं होता।

कई बार किसी विशेष क्षणों में मनोभावों की तरंगे सभी कगारों को तोडकर स्वच्छंद रुप में प्रवाहित होती है, तो साहित्य का रुप धारण करती है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यिकार उससे दूर नहीं रहता और उसकी आत्मा विकलता से रो उठती हैं। उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक होता है। कभी-कभी कथाकार को कवि और चित्रकार के समान माना जाता है, लेकिन कईं अर्थों में उनसे भिन्न होता है। प्रेमचंद के शब्दों में : ''कवि और चित्रकार काल्पनिक जगत में जी सकते है, लेकिन उपन्यासकार और कहानीकार के पैर धरतीपर होते है।''[3] सुषमा शर्मा मानती है की, ''यथार्थ साहित्यिकार समाज का सर्वाधिक संवेदशनशील प्राणी होता है। इसीलिए उसका साहित्य भी संवेदनशीलता के आधारपर लिखा होता है।''[4] स्पष्ट है की उसके लिए सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा करना नितांत असंभव है।

साहित्य में व्यक्तिगत भावनाओं और अनुभूतियों का वर्णन होता है। वह व्यक्ति समाज, जाति तथा काल की विशेषताओं और परिस्थितियों से प्रभावित होता है। एक प्रतिभासंपन्न लेखक अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखता हुआ भी अपने देश और जाति के भूत और भविष्य से संबंधित होता है उसे 'भविष्य दृष्टा' कहा जाता है। वह अपनी जाति की उन विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है। जो कि उसके समकालीन और उससे पूर्व के लेखकों में समान रुप से प्राप्त होती है। साहित्यिकार की विशेषताएँ निरन्तर विकसित होते हुए साहित्य में समानरुप से वर्तमान रहती है। धर्मप्रधान आध्यात्मिकता भारतीय साहित्य की सबसे बडी विशेषता है। आत्मा की संपूर्णता ही भारतीय दृष्टिकोण का लक्ष्य है। इसी आदर्श के अनुरुप हमारे देश की सामाजिक और राजनीतिक जीवन की रचना हुई। रोमन या ग्रीक आदर्शों के विपरीत भारतीय

राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण इस ढंगपर किया गया कि उसमें व्यक्ति को प्रधानता दी गई और समाज तथा राष्ट्र का प्रभुत्व कम कर दिया गया। राजनीतिक सत्ता राजा के हाथ में अवश्य थी, परंतु वह भी धार्मिक भावनाओं के आधिक्य के कारण आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च राष्ट्र के नेताओं के सम्मुख सदा विनम्र और विनीत रहा। ऐसी स्थिति में जनता देश की राजनीतिक स्थिति के प्रति उपेक्षापूर्ण होकर अपने आध्यात्मिक चिन्तन में अधिक संलग्न हो गई। राजनीतिक स्थिति की इसी उपेक्षा के परिणामस्वरुप देश में राजनीतिक राष्ट्रीयता का अभाव रहा। परिणामत: धार्मिकता का ही विकास हुआ। भारतीय जीवन में धर्म का संबंध प्रत्येक क्षेत्र से है। राजनीति, समाज और भौतिक सुख-सुविधा के साधन धर्म के क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। अर्थात धर्म जीवन का अभिन्न अंग बना है।

"भारतीय कलाकार तो जीवन और मृत्यु में भी समन्वय को स्थापित करने का प्रयत्न करता है।"[5] कई तत्ववेत्ताओं ने तो मृत्यु की कालिमा को नष्ट करके उसमें अनन्त जीवन के चिर-सौंदर्य को भरने का प्रयत्न किया है। वास्तव में भारतीय साहित्य के मूल में 'सर्वात्मना परमात्मन्' और 'बहुजन हिताय' की भावना कार्य कर रही है और वही उसके लोक-कल्याणकारी रुप को स्थिर करती है। भारतीय साहित्य समाज, धर्म, राजनीति-दर्शन, देशभक्ती आदि को समेटता हुआ परिवर्धित एवं परिवर्तित हुआ। इसके संदर्भ में डा.विमल सहस्त्रबुध्दे का कथन है कि - "साहित्य सामाजिक जीवन की विभिन्न बदलती दिशाओं और गतिविधियों का प्रतिबिंब है।"[6]

यहाँ स्पष्ट है कि साहित्य और समाजजीवन का घनिष्ट संबंध है। साहित्य और समाज एक ही सिक्के के दो अंग हैं। एक के बिना दूसरे का विकास नहीं हो सकता। किसी भी समाज, जाति काल का सम्यक अध्ययन करना हो तो तत्कालिन साहित्यकृतियों का अध्ययन करना जरुरी हैं। साहित्य समकालीक होने के कारण वास्तविक यथार्थ होता है, ऐसा मुझे लगता है।

**2) साहित्य और समाज का संबंध :-**

ऐसा कहा जाता है की साहित्य समाज जीवन का दर्पण है। साहित्य मनुष्य के सांस्कृतिक विकास का महत्वपूर्ण अंग है। उसमें मनुष्य के सौंदर्यबोध, कर्म और विचार का चित्रण होता है। ज्ञान, क्रिया और इच्छा के त्रिवेणी संगम को 'मानव जीवन' कहा जाता है। साहित्य का रुप सांस्कृतिक है क्योंकि वह मनुष्य की समष्टिगत चेतना का प्रतीक है। इसप्रकार साहित्य और समाज दोनों ही मानव संस्कृति के पर्याय बन जाते हैं। लोक और व्यक्ति के जीवन की शब्दगत् अभिव्यक्ति ही साहित्य है। ''मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास सामाजिक विरासत से ही होता है।''[7] सुषमा शर्मा समाज को मानव व्यवहार की व्यवस्था मानती हुअी कहती है - ''समाज चलनों एवं कार्यविधियों, प्रभुत्व एवं पारस्परिक सहयोग, अनेक समूहों एवं श्रेणियों की मानव व्यवहार के नियंत्रणों एवं स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है।''[8]

साहित्य को समाज का अभिन्न अंग कहा जाता है क्योंकि साहित्य में समाज का हुबहू चित्रण किया जाता है। हर एक बात को अत्यंत सूक्ष्मता से और विशिष्ट ढंग से चित्रित किया जाता है। साहित्य की निर्मिती समाज से हुई है। समाज के बिना साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। समाज में जो बदलाव आते है उसी का वर्णन साहित्यिक स्तरपर आता है। समाज में मनुष्य की भावाभिव्यक्ति परिष्कृत होकर साहित्य का आधार बनती है। मनुष्य तथा पशु की भावाभिव्यक्ति में अंतर है। अर्थात मनुष्य भावाभिव्यक्ति के लिए साहित्य लिखता है, पशु नहीं। इसलिए किसी विशिष्ट प्रकार के समाज के बंधनों में मनुष्य को बाँधा है। वह उसी नियमों के सहारे चलता है। पशु के लिए ऐसी कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं। मनुष्य की सामाजिक अनुभूति समाज के साथ परिवर्तित होती है। प्रत्येक युग के समाज के अपने विधी निषेध होते हैं, अपनी संस्कृति तथा मर्यादा होती है, जो मानव चेतना की अनुभूति के स्वरुप को प्रभावित करती है। साहित्य व्यक्ति या समाज की अनुभूतियों, भावनाओं और कल्पनाओं का ही रुप है। इसीकारण साहित्य समाज का दर्पण कहलाता है।

सामाजिक आदर्शवाद की भावना से प्रेरित होकर ही प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में आदर्शवाद को अपनाया। छायावादी कवियों की पलायनवादी प्रवृत्ति भी सामाजिक विषमतावाद का फल है। आधुनिक युग का कवि स्वराज्य के गीत गाना छोड़कर आर्थिक तथा सामाजिक शोषण के शिकार किसान, मजदूर तथा दलित वर्ग को ही अपने काव्य का विषय बना रहा है। साहित्यपर समाज के इस प्रभुत्व के अनन्तर हमें समाज पर पडे हुए साहित्य के प्रभाव को भी आँकना चाहिए। वस्तुत: हमें सामाजिक जीवन के इस आधारभूत सत्य को नहीं भूलना चाहिए कि सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में आदान-प्रदान होता रहता है। सामाजिक संस्कृति का निर्माण कला और साहित्य से होता है और संस्कृति सामाजिक मूल्यों का निर्माण करके समाज के मौलिक जीवन की गति विधि को प्रभावित करती रहती है। वस्तुत: साहित्य और कला विचार तथा आदर्श सांस्कृतिक रुप धारण करके सामाजिक परिवर्तन के कारण बन जाते है।

हिंदी उपन्यासकार मुंशी प्रेमचंद के शब्दों में - ''साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक तथा सुंदर बनाता है। दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।''[9] साहित्य मानव जाति का 'हितैषी' है। सामाजिक परिवर्तन के उद्‌देश से प्रभावित साहित्य में समाज की हर दशा प्रतिबिंबित होती है। भारतीय समाज विविध वर्णो, जातियों, धर्मों, संप्रदायों के भिन्न-भिन्न आचार, विचार और संस्कारों से युक्त है। प्रत्येक वर्णन और जाति की सामाजिक रुढियाँ अलग-अलग है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में हिंदु समाज का विभाजन हुआ है। प्रत्येक वर्ण की परंपरागत धारणाएँ भिन्न रही है। सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्पत्ति के कारण भारतीय समाज को उच्च, मध्य और निम्न वर्ग में विभाजित किया जाता है। निम्न वर्ग की सेवा पर अन्य वर्ग पलते हैं। भारतीय समाज विभिन्न जातियों का समूह है। हिंदु, मुसलमान और ईसाई जातियों तथा अन्यों के संयोग से विशाल भारतीय समाज बना है। अज्ञानी और गरीब समाजपर रुढ़ियों का प्रभाव रहा है। धार्मिकता और अंध:श्रध्दा ने जनता को इतना कसकर बाँध लिया है कि उसके बंधन से मुक्त कराना मुश्किल है। बेगार-प्रथा, दासप्रथा और धार्मिकता की आड़ में जनता का शोषण हो रहा था। राजनीतिक लोग सत्ता के

बलपर, धार्मिक व्यक्ति धर्म एवं पाप-पुण्य के नामपर, धनवान लोग धन संपत्ती के सहारे सामान्य जनता का शोषण कर रहे हैं। इसके दर्शन समाज व्यवस्था में होते है। जिससे समाज मृतप्राय-सा बना है। प्राचीन काल में राजाओं और जमींदारों ने तो इस प्रथा से नाजायज फायदा उठाया था। नजराना और उपहार की रुढ़ि से किसान तंग आए थे। छुआछूत ने आदिकाल से अपनी जड़े जमकर समाज में मजबूत की है। जिससे दलित समाज नारकीय जीवन जीने के लिए मजबूर बना है। समाज में ऊँच-नींच का विचार ज्यों-का-त्यों बना रहा है।

स्वातंत्र्यपूर्व काल में समाज आर्थिक विपन्नता से इतना पीड़ित था कि उसे समय पर खाने को नहीं मिलता था। लोगों के रहने के लिए झोपड़े मयस्सर नहीं थे। प्रजा भूखी रहे, पर अधिकारियों को काफी वेतन मिले यह सरकार की नीति समाज के शोषण का कारण थी। किसान पूरी तरह से निर्जीव बना था। वित्तिय घाटा और अर्थाभाव के कारण लोग अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने में असमर्थ थे। इस तरह ओला, सूखा, महामारी और भूचाल जैसी आपत्तियों से समाज जीवन की नींव हिलने लगी। 19 वीं सदीं के प्रारंभ में भारतीय समाज-व्यवस्था पुरुषप्रधान होने से समाज जीवनपर पुरुष का ही प्रभाव था। विवाह केवल जाति के आधारपर होते थे और पुरुष एक से अधिक विवाह कर सकते थे। बुढ़ापें में भी पुरुष किसी बालिका के साथ विवाह करने के लिए मुक्त था। इसप्रकार विषम विवाह में मरणासन्न पुरुष उस बालिका को वैधव्य की खाई में ढकेलकर उसके जीवन को मिट्टी में मिला देने का कारण बना था। 19 वीं सदी के अंत में और 20 वीं सदी के प्रारंभ में चलाए गए सामाजिक आंदोलनों से समाज जीवन परिवर्तित होने लगा। उसमें न्यायमूर्ती महादेव गोविंद रानडे, महात्मा ज्योतिबा फुले, गोपाल गणेश आगरकर, लोकमान्य तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, महात्मा गांधी, विठ्ठल रामजी शिंदे और डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर आदि का कार्य उल्लेखनीय है। उन्होंने शोषितों के साथ दलितों का जीवन एवं नारी जीवन में परिवर्तन लाने की कोशिश की। उन्होंने उन्हें संगठित करके उनमें चेतना का निर्माण किया। जिसके बलबुतेपर आधुनिक समाज की नींव डाली गयी ऐसा लगता है।

अंग्रेजों के आगमन से देश का एक तरफ नुकसान हुआ तो दूसरी ओर देश को परिवर्तन की नयी दिशा दिखाकर प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। अंग्रेजों द्वारा न्याय और शिक्षा विभाग में किए सुधार से भारतीय समाज में परिवर्तन हुआ। अंग्रेजी शिक्षा से भारत में नए विचारों का बीज बोया गया, जिससे समाज सुधारकों की नयी पिढ़ी देश में पैंदा हुई। भारतीय शिक्षित समाज ने अंग्रेजों के रहन-सहन, आचार-विचार, संस्कार और परिवेश का अनुकरण करके आधुनिकीकरण को अपनाया। प्रेमचंद समाज के चित्रकार थे। प्रेमचंद युग भारतपर पड़े विदेशियों के प्रभाव का युग था। भारतपर विदेशियों का शासन होने से अनेक विदेशी स्त्री-पुरुष भारतीय समाज से जुडे हुए थे। साहित्य में भी इसके दर्शन होते है, जैसे - प्रेमचंद के 'कर्मभूमि' की नेट्न एँग्लों-इण्डियन, 'रंगभूमि' में जॉन सेवक, सोफिया विदेशी जन एवं 'शूद्रा' कहानी का एजण्ट साहब अंग्रेजी है यह यहाँ स्पष्ट है। प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों में विदेशी लोग भी स्थान पा चुके है। इसप्रकार साहित्य के क्षेत्र में विविधता के दर्शन होते हैं। परिवर्तित समाज की झांकी दिखाई देती है।

साहित्य की परिभाषा में साहित्य क्या है? इस प्रश्नपर शताब्दियों से विचार होता आ रहा है और इसी प्रश्न के उत्तर में साहित्य की संज्ञा को स्पष्ट करने की कोशिश की गई है। यदि आज हम इन परिभाषाओं और लक्षणों को यहाँ एकत्रित करने का प्रयत्न करे तो निश्चय ही हम उनसे किसी भी एक निश्चय पर पहुँचने में असमर्थ होंगे। प्रथम तो किसी भी वस्तु का चरम और निर्भ्रान्त परिचय देना ही कठिण नहीं, अपितु असंभव है। दूसरे साहित्य तो अजस्त्र तथा विविधता का स्त्रोत हैं और इसी कारण जब उसे किसी परिभाषा हे अंतर्गत बाँधने का प्रयत्न किया जाता है, तो उस विविधता के कुछ अंश को ग्रहण किया जाता है, किंतु मनुष्य का प्रयास कभी समाप्त नहीं होता। उसकी ऐक्यान्वेषी प्रवृत्ति इस संपूर्ण विविधता में व्याप्त एकत्व का निरंतर अन्वेषण करती आयी है। अत: अतीत और वर्तमान दोनों ही कालों में साहित्य की वैयाकरणिकों अनेक दार्शनिकों ने और साहित्यिकारों नें परिभाषाएँ की है। जिनमें से कुछ का परिचय देना यहाँ असंगत न होगा।

सामान्यतः जनहित से संबंधित रचना 'साहित्य' है। साहित्य में सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् की धारणा रहती है। शब्द, अर्थ से बनी रचना 'साहित्य' कहा जाता है। सामान्य जनजीवन की झाँकी दिखानेवाली रचना 'साहित्य' है। साहित्य सिर्फ मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि समाज जीवन का प्रतीक है । समाज में उत्पन्न होनेवाले विचार, भाव, आंदोलन के दर्शन साहित्य में होते है। मानव जीवन का चित्र साहित्य होता है। साहित्य का शरीर शब्द है, तो आत्मा मनुष्य की वाणी है। डा.बदरीप्रसाद ने साहित्य के बारे में कहाँ है - ''वही साहित्य सफल है, जो शोषित मानवों की पीड़ा, वेदना तथा उनके प्रति किए गए शोषण और अन्याय का पर्दाफाश कर सके, मेहनतकश मजदूरों की आवाज को बुलन्द कर सके।''[10]

आधुनिक साहित्य का आरंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850 ते 1885) से होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों का प्रवेश हिंदी में हो गया था, परंतु भारतेंदु के आविर्भाव से पहले प्राचीनता और रुढ़िवादीता आधुनिकतापर हावी थी। भारतेंदु ने ही साहित्य क्षेत्र में नविनता को स्थान दिया। नाटक के क्षेत्र में तो वे अग्रणी ही रहे। 'नीलादेवी' के रुप में उन्होंने नारी जागरण की भावना से ओतप्रोत पहला ऐतिहासिक नाटक लिखा। ''भारत-जननी'' में राष्ट्रीयता को अपना विषय बनाया और ''प्रेमयोगिनी'' में तत्कालीन समाज की द्विविधाओंपर व्यंग्य किया। काव्य के क्षेत्र में उनके संस्कार प्राचीनता की ओर जाते है। परंतु व्यवहार-बुध्दी उन्हें नवीनता की ओर आकर्षित कर रही थी। ''नए जमाने की मुकरी'' नाटकों की कविताएँ और दुर्भिक्ष एवं महँगाई पर लिखा काव्य नई प्रवृत्तियों की सशक्त सूचक हैं। उन्होंने प्रचलित गद्य को और भी परिमार्जित किया। उसका ''हरिश्चंद्र'' सर्वमान्य बन गया। ''कवि-वचन-सुधा'' और ''हरिश्चंद्र-चंद्रिका'' के द्वारा उन्होंने नई प्रवृत्तियों और नए गद्य लेखन की परंपरा को ही दृढ किया।

आज कथा, कहानी और उपन्यास में सामान्य मनुष्य की चर्चा हैं। भारतेंदु युग में साहित्यिकारों ने देवी-देवता और सामंतों की चर्चा छोड़कर महँगाई और अकाल की ओर भी ध्यान दिया। सामान्य जन-जीवन की विषमताएँ और विडंबनाएँ चित्रित होने लगी। नर-नारी

के सामाजिक बंधन असह्य हो उठे। फलत: नाटक के क्षेत्र में प्रहसनों और उपन्यास के क्षेत्र में सामाजिक उपन्यासों का जन्म हुआ। आर्य समाज के सुधार आंदोलनों ने विधवा-विवाह, बाल-विवाह, नयी शिक्षा आदि की ओर ध्यान आकर्षित किया।

यहाँ स्पष्ट है कि साहित्यिंकारों ने समसामायिक समस्याओं को वाणी दे दी। साहित्य में जनजीवन का चित्रण होने के कारण इसे समाज का प्रतिबिंब माना जाता है। साहित्य में समाज एवं मानव जीवन का शोषण, व्यथा, पीड़ा, दर्द, समस्या का यथातथ्य चित्रण होता है, इसलिए तो साहित्य समाज जीवन का दर्पण है, ऐसा कहा जाता है।

**3) आँचलिकता का स्वरुप :-**

'अँचल' से आँचलिकता शब्द बना है। 'अँचल' शब्द का अर्थ है 'किसी प्रदेश का या किसी एक विशेष गाँव का चित्रण'। इसीलिए आँचलिकता का पर्यायी शब्द 'प्रादेशिकता' भी पर्याप्त प्रचलित है। मराठी साहित्य में आँचलिक साहित्य को 'प्रादेशिक साहित्य' नाम से संबोधित किया जाता है। अँचल शब्द से एक वैशिष्ट्यपूर्ण भू-भाग या भू-प्रदेश का बोध होता है, जो अपनी स्थानीय, भौगोलिक या प्राकृतिक विशेषताओं के कारण अन्य संलग्न भूमि से अलग दिखाई देता है। वहाँ की पार्श्वभूमी, लोगों की रहन-सहन, आचार-विचार, बोलचाल की भाषा, वेशभूषा, रस्मरिवाज, मनोरंजन के साधन, त्यौहार यहाँ तक की उसका संपूर्ण जनजीवन अपने आप में एक इकाई बन जाता है। अँचल का सामुदायिक तथा सांस्कृतिक जीवन अपनी विशिष्टता रखता है। अँचल विशेष के जनजीवन एवं जनसंस्कृति का प्राकृतिक पार्श्वभूमि में रेखांकन करने की साहित्य की जो एक विशिष्ट प्रवृत्ति है वही 'आँचलिकता' है। अँचल शब्द की अपेक्षा प्रदेश शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रदेश में क्षेत्र का विस्तार एवं स्थानीय जनजीवन में विविधता निहित है। 'अँचल' में सीमित भूमि एवं जनजीवन में साधर्म्य अभिप्रेत है। फिर भी आँचलिकता के लिए प्रादेशिक संज्ञा सर्वसम्मत हो गई है।

अँग्रेजी साहित्य में इस प्रवृत्ति को 'रीजनॅलिज्म' (Regionalism) कहा जाता है। अँग्रेजी साहित्य में 'रीजन' (Region) शब्द का अर्थ अँचल के समान ही माना जाता है किंतु वह अँचल का उचित पर्यायी शब्द नहीं है। अँचल के समान ही 'रीजन' का चित्रण जिस साहित्य में है, उसे 'रीजनल (Regional) साहित्य' कहा जाता है। अमेरिकन उपन्यास साहित्य में 'धरती का उपन्यास' (Novel of the soil) के रुप में उपन्यासों का एक वर्ग स्वीकृत किया गया है। इसमें अति दूरवर्ती क्षेत्र या आदिवासी लोगों का जीवन संघर्ष चित्रित किया जाता है। यह आँचलिकता की एक विशेष श्रेणी मानी जाती है। इसमें शैली की अपेक्षा वस्तु का विशेष प्राधान्य होता है। जिसका संबंध ग्रामांचल के यथार्थवादी या प्रकृतिवादी जीवनदर्शन से है। आँचलिक शब्द के द्वारा ही उसका स्वरुप-विशेष अभिव्यक्त करना उचित होगा। यह संज्ञा नागरी आँचलिक उपन्यासों के लिए यथार्थ नहीं होगी, क्योंकि इनमें केवल आदिम, आदिवासी, जंगली, वन्य एवं बहुत दूरवर्ती लोगों का ही अति संघर्षशील, साहसी जीवनक्रम का चित्रण किया जाता है।

**परिभाषाएँ :-**

गणपतीचंद्र गुप्त के मतानुसार - ''आँचलिक उपन्यासों में किसी अँचल या प्रदेश विशेष के ग्रामीण वातावरण एवं संस्कृति का चित्रण किया जाता है।''[11]

डा.रामदरश मिश्र के अनुसार - ''आँचलिक उपन्यास लिखना मानो हृदय के किसी प्रदेश की कसमसाती हुई जीवनानुभूति को वाणी देने का अनिवार्य प्रयास है। आँचलिक उपन्यास अँचल के समग्र जीवन का उपन्यास है, उसका संबंध जनपद से होता है, ऐसा नहीं वह जनपद की ही कथा है।''[12]

डा.रणवीर रांग्रा के शब्दों में - ''आँचलिक उपन्यास जिस किसी भी प्रदेश, जाति या अँचल को छूता है, उसकी भौगोलिक स्थिति और वहाँ के लोगों की धर्म संस्कृति, रीती-नीति, प्रकृति-विकृति का ऐसा मूर्त और सांगोपांग चित्रण करता है कि उस क्षेत्र या अँचल का

जनजीवन अपनी संपूर्ण विविधता में साकार हो उठता है। यहीं नहीं वह अपनी विशिष्टता में अनन्य अँचल भी बन जाता है।''[13]

विजय शुक्ल कहते है - ''आँचलिकता आम आदमी की जिंदगी से जुड़ा हुआ एक चेतना संस्कार है। स्थानीय जीवन मूल्यों के भीतर से राष्ट्र की चेतना के अनुभव का रुप देना इसका एक श्रेष्ठ गुण है, जो साहित्य को महामान्वित करता है। आँचलिकता का मूल्य एक किसी खास स्थान, विशेष के जीवनदर्शन एवं पध्दतिपर आधारीत है। उसे आँचलिक उपन्यास माना जाता हैं।''[14]

डा. नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार - ''आँचलिक उपन्यास वे हैं जिनमं अविकसित अँचल विशेष के आदिवासियों अथवा आदिम जातियों का विशेष रुप से चित्रण किया गया हो।''[15]

डा. देवराज उपाध्याय के मतानुसार - ''आँचलिक उपन्यास में लेखक देश के किसी विशेष भू-भागपर ध्यान केंद्रित कर उसके जीवन को इसप्रकार प्रस्तुत करता है कि पाठक उसकी अनन्य विशेषताओं, विशिष्ठ व्यक्तित्व, रीति परंपराओं तथा जीवनविधा के प्रति सचेत और आकृष्ट हो जाता है।''[16]

डा. ह. के. कडवे ही धारणा है कि - ''आँचलिक उपन्यास में किसी अँचल विशेष की प्राकृतिक पार्श्वभूमि में उसके समग्र सांस्कृतिक लोकजीवन की गतिशीलता एवं मानवीय चेतना का संवेदनापूर्ण वर्णन स्थानीय बोली के द्वारा यथार्थवादी दृष्टि से किया जाता है।''[17]

डा. हरदयाल के शब्दों में - ''आँचलिक उपन्यास वह है, जिसमें अपरिचित भूमियाँ और अज्ञात जातियों के वैविध्यपूर्ण जीवन का चित्रण होता है। जिसमें वहाँ की भाषा, लोकोक्ति, लोककथाएँ, लोकगीत, मुहाँवरे और लहजा, वेशभूषा, धर्मजीवन, समाज संस्कृति तथा आर्थिक और राजनीतिक जागरण के प्रश्न एक साथ उभरकर आए हैं।''[18]

इन परिभाषाओं से आँचलिक उपन्यास के स्वरुप पर सचमुच प्रकाश पड़ता है। उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि 'अँचल' एक सीमित क्षेत्र या जनपद है। इसमें संस्कृति, जीवनप्रणाली, रुढ़ी, परंपरा का अधिक चित्रण मिलता है। यहाँ एक विशिष्ट भूभाग होता है जो पिछड़ा और विज्ञान से दूर होने के कारण उसके परिष्कारों से अछूत रहता है। पहाड़ी प्रदेश का अँचल इस कोटि में आ सकता है। धीरे -धीरे आँचलिकता क्षीण होने लगी है। अभी भारत में भाषा के आधारपर राज्यों का जो विभाजन एवं पुननिर्माण हुआ है वह आँचलिकता की दृष्टि से समीचीन है। इन राज्य एवं प्रदेश की अपनी विशिष्ठ संस्कृति, परंपरा रहती है वही उनका आधार बनी है।

अत: आँचलिकता की प्रवृत्ति व्यक्त करनेवाले उपन्यास को आँचलिक एवं प्रादेशिक या 'रीजनल' उपन्यास ही कह सकते है। उसके लिए अन्य कोई नाम उचित एवं यथार्थ प्रतीत नहीं होता। इसका विवेचन तथा उस जनजीवन की भाषा, वेशभूषा, उत्पादन के साधन, प्रकार, विनिमय वर्ग और जातियाँ तथा उनका परस्पर संबंध, धार्मिक विश्वास, जन्म से लेकर मृत्यु तक के आचार, संस्कार, शिष्टाचार, चरित्रगत आदतें, मनोरंजन के साधन, कला, खान-पान, मंत्रतंत्र जादू टोना, विश्वास, पापपुण्य की मान्यता तथा अन्य मान्यताएँ, शिक्षादीक्षा, जीवन-दर्शन, सामाजिक उत्सव और समारोह आदि के अतिरिक्त इन उपन्यासों में उस अँचल विशेष की भौगोलिक स्थिति, राजनीतिक महत्व, नदियों, जंगलों, पेड़ पौधों, भूमि की बनावट और परिवर्तनों, फसलों और वहाँ के जनजीवन से संबंध, बदलते हुए सामाजिक मूल्यों आदि का विश्लेषण आँचलिकता में आता है। आँचलिक उपन्यास का लेखक किसी विशेष अँचल की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि व्यवस्थाओं एवं परंपराओं का जनजीवन पर गहरा प्रभाव डालनेवाली ऐसी शक्ति के रुप से वर्णन करता है जिससे उसकी एक विशिष्ट जीवन पध्दति मुखर हो उठती है। आँचलिकता ही साहित्य की प्रवृत्ति है, ऐसा लगता है।

**4) समाज की निर्मिती एवं 'दलित का स्थान' :-**

समाज की निर्मिती पुरातनकाल से होती आयी है। समाज का साहित्य से संबंध भी बहुत पुराना है। जैसे-जैसे समाज का निर्माण होता गया वैसे-वैसे साहित्य का सृजन होता गया। आधुनिक काल में ही नहीं बल्कि आदिकाल से लेकर आज तक समाज की जो उत्तरोत्तर प्रगति हो गई है, उसी का चित्रण साहित्य में हुआ है। भारत में अनेक भाषाएँ प्रचलित है। भाषा को बोली के रुप में समाज अपनाता है। अत: समाज के कारण ही भाषाएँ समृध्द हुई है। समाज एक सामाजिक संस्था है। मानव सामाजिक प्राणी होने के कारण वह समाजव्यवस्था से जुड़ा है। समाज वह व्यवस्था है जिसमें मानव भाईचारे का संबंध स्थापित करता है। व्यक्तियों के समूह को सामान्यत: समाज कहा जाता है। बीसवीं शताब्दि में विस्तृत मानवता तथा मानव जाति का प्रामाणिक आधार समाज है। समाज वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा व्यक्ति सामुदायिक व्यवहार, रुढ़ि परंपरा, सभ्यता, विकास तथा मनोभाव व्यक्त करके दूसरों के कल्याण के लिए, अनुभवों को हस्तांतरित करती है, जो एक संस्था है। हर एक साहित्यिकार अपने साहित्य के माध्यम से तत्कालीन परिस्थितियाँ, युगीन आवश्यकताओं, आकांक्षाओं को वाणी प्रदान करता है। अत: साहित्य में समाजजीवन का यथार्थ चित्रांकन होता है।

भारतीय समाज व्यवस्था वर्णाधिष्ठीत एवं धर्म के आधार पर बन रही है। जातीयता समाज की नींव है। दलित, हरिजन, पिछड़ी जनजाति, समाज व्यवस्था में आज भी बन रही है। वे अज्ञानी अशिक्षीत, अंधश्रध्द, उपेक्षित, शोषित, अपमानित, लांछित है। समाज का सबसे निचला वर्ग तबका दलित व्यवस्था है। आजादी आंदोलन के साथ-ही-साथ दलितोध्दार का सामाजिक कार्य भी शुरु हुआ। राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक, सांस्कृतिक स्तरपर यहाँ जनआंदोलन शुरु हुए।

दलित वर्ग की लोकसंस्कृती एवं लोकगीत का उनके उत्थान एवं संघर्ष में विशेष योगदान रहा है। अँग्रेजी शासन में हिंदी क्षेत्र तथा अन्य क्षेत्रों में दलित वर्ग को जागरण का

आवाहन करनेवाले लोक कवि, जनकवि एवं समाजसुधारक रहे हैं। इन दलित लोककवियों एवं गायकों ने दलित मुक्ति संघर्ष की प्रथम ज्योति प्रज्वलीत की। मेरठ में झण्डूदास के ख्यालों के प्रकाशन ने पश्चिमी उत्तरप्रदेश की दलित जातियों में संजीवनी का कार्य किया। दूसरी ओर आर्य समाज ने शुध्दी के लिए भजन ख्याल आदि लोकगीतों का सृजन किया गया। ये लोकगायक अपनी भाषा में अपनी संस्कृती का विकास कर रहे थे। एक ओर वे निम्न जातियों की आंतरीक बुराइयों का प्रतिरोध कर रहे थे, तो दूसरी ओर हिंदु समाज और वर्ण व्यवस्था के विरोध में दलित मुक्ति संघर्ष को नया मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। लोककवि एवं गायक श्री लक्ष्मणदास गाँव-गाँव, शहर-शहर जाकर जाटव जाँति को पढ़ने लिखने का आवाहन कर रहे थे।

''जागो जाटव वीरो । क्यों देर लगाओ रे ।
अब शुध्द बनो पढ़-लिखकर आगे आओ रे।
हिंदु लगता सबसे मिठ्ठा
मुसलमान है सारा फिक्का
सब जुड़ मिल के अपनी चटसाल बनाओ रे।''

झण्डूदास - बख्शीदास की भजन एवं ख्यालों की ''जाटव सुधार'' पुस्तक आज तक बहुचर्चित है। जाटवों के जीवन, पात्रों का वर्णन करते हुए लिखते है -

''कहै सुनै को जाटव भाई नहीं समझ मे लाते हैं।
कहीं किसी के होय सगाई बकरे को कटवाते हैं।
मांस खाय और मदिरा पीकर कुफ्र मनाते हैं।
चाहे पास न चिलम तमाखू कर्ज काढ के लातें हैं।
ये तो बात बड़ी है खोटी मंडली को नचवाते हैं।
पदवी इन्हें कौन-सी मिलती कर्ज काढ़ कर लाते हैं।
झण्डू कहै मिती जब टूटे दारुण दुखड़ा उठाते हैं।
बख्शीदास की शिक्षा मानो कहते हैं शीश नवाय।।''19

इसमें दलित वर्ग की सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की झलक मिलती हैं। विरोध एवं संघर्ष के स्वरों के साथ सुधारात्मक प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। महाराष्ट्र, राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, पंजाब एवं बिहार आदि में इसी प्रकार के लोकगायक एवं लोग कवि दलित वर्ग की सांस्कृतिक अस्मिता को जीवित रखे हुए थे। इन लोक कवियों ने एक ओर तो उपदेश देकर समाज सुधार का काम किया और दूसरी ओर दलित मुक्ति के संघर्ष को सबल अभिव्यक्ति प्रदान की। यह अभिव्यक्ति नयी नहीं थी। इसका प्राचीन रुप सिध्द कवियों एवं निर्गुण संतों की वाणी में है। इन लोक कवियों ने समाज का लोकगीतोंद्वारा मनोरंजन भी किया।

नवबौध्द आंदोलन का शुभारंभ 14 अक्तूबर 1956 से डॉ.आंबेडकर तथा उनके अनुयायियोंद्वारा नागपुर में बौध्द धर्म की दीक्षा ग्रहण करने से होता है। इसकी वैचारिक प्रतिक्रिया दलित समाज में अवश्य हुई। दलित मुक्ति संघर्ष को नया धर्म, नयी संस्कृती, नया इतिहास और नया साहित्य प्राप्त हुआ। सन 1957 में कलकत्ता के 'हमारा समाज' में ''आंबेडकर और जाति व्यवस्था'' इस आलेख में सत्यबाला तायल ने इस धर्म परिवर्तन पर कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठायें हैं। हिंदु धर्म में सुधार करने के लिए, आचरण परिवर्तित करने हेतु, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, सत्यशोधक समाज तथा धर्म-निर्णय-मण्डल आदि छोटे बड़े धार्मिक संप्रदाय निर्माण हो गए।

धर्म परिवर्तन पिछड़ी जनजातियों में एक महत्वपूर्ण घटना रही है। अपने उपर होनेवाले अन्याय, शोषण, दमन से मुक्ति का यह एक मार्ग माना गया। मनुवादी संस्कृति से दूर होकर अपने अस्तित्व के लिए किया गया यह एक क्रांतिकारी कदम है। इसके बारे में अजय चौधरी कहते है - ''मनुवादी जातिप्रथा की क्रूर विसंगतियों के शिकार दलितों ने सामूहिक धर्म परिवर्तन किया।'' वे आगे कहते है - ''वह धर्म परिवर्तन पिछड़ी योजना के साथ स्वतंत्र सांस्कृतिक पहचान का खुला विकल्प मानकर चल रही है।''[20]

इसप्रकार समाज की निर्मिती होने के बाद उसके स्वरुप को देखते हुए 'दलित' का स्थान निश्चित कर सकते है। समाज के निर्माण होने के साथ-ही-साथ दलितों की निर्मिती होती गई। वे अपना स्थान कायम करते रहे। आज का दलित समाज अपना अस्तित्व एवं अस्मिता की रक्षा करने का प्रयास कर रहा है। राजनीतिक नेताओं ने भी सहयोग दिया है, ऐसा लगता है।

**5) दलित शब्द की व्याख्या - चेतना का अर्थ :-**

भारत में दलित शब्द का प्रयोग प्राचीन है। आरंभ से लेकर अब तक इस शब्द की व्याप्ति को लेकर विद्वानों में अनेक मतभेद रहे है। 'दलित' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत धातु 'दल' से हुई है। विभिन्न शब्द कोशों में दलित शब्द का अर्थ इन रुपों में मिलता है।

''दल - (अक) विकसना, फटना, खण्डित होना, द्विधा होना

दल - (सक) चर्प करना, टुकड़े करना, विदारना

दल - (नृप) सैन्य, लष्कर पत्र, पत्ती

दलित - हृदयं गाठो द्वेगं द्विधा तु न विघते । (वेदनाओं के कारण हृदय के टुकडे होते है, नाश नहीं।

दल - नाश करणे (विनष्ट हुए)

दलित - नाश पावलेला (विनष्ट हुआ)

दीन दलित - समानार्थी शब्द ।''[21]

''दलित (संवि) तुडविलेले, चुरडलेले मोडलेले हलकी जात[22]

अंग्रेजी - डिप्रेस्ड क्लासेस, या शब्दास प्रतिशब्द - विनष्ट किया हुआ।

''दलित - (वि.सं.) स्त्री दलिता

मसला हुआ, मर्दित ।

दबाया, रौंदा या कुचला हुआ।

खण्डित ।

विनष्ट किया हुआ।''[23]

डा. भोलानाथ तिवारी ने दलित शब्द का अर्थ इसप्रकार किया है -

दलित - कुचला हुआ, मर्दित, मसला हुआ, रौंदा हुआ।

पस्त हिम्मत, हितोत्साह

अछूत, जनजाति, डिप्रेस्ड क्लास।

''डा. रामस्वरुप रशिकेश' का कथन है -

दलित (संस्कृति वि) खण्डित, चूर्णित, मर्दित

अस्पृश्य, अंत्यज

नाशित, ध्वंसित

संस्कृत पुट - नीच हरिजन ।

दलित शब्द का आशय

दलित - दब + कत

टूटा हुआ, चीरा हुआ, फाड़ा हुआ, फटा हुआ, टुकड़े टुकड़े हुआ।

खुला हुआ फैलाया हुआ।''[24]

''दलित - मसला रौंदा या कुचला हुआ।

दलित - विदीर्ण, कुचला हुआ

दलित - जो दबाया गया हो अथवा जिसे पनपने या बढ़ने न दिया गया हो।

दलित - 'Depressed - Pressed down or situated lower than the general surface|'[25]

डा. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी के शब्दों में - ''समता के अस्मितादर्शी प्रगतीशील समाज के मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्षशील लोग ही 'दलित' है। आज पिछड़े वर्ग, अनुसूचित जाति, जनजाति ही अपनी अस्मिता के लिए संघर्षरत है।''[26]

दलित संज्ञा की परिभाषा केवल बौध्द या पिछड़े हुए वर्गीय जन ही नहीं, तो जो-जो शोषित श्रमजीवी है, वे सब 'दलित' संज्ञा में समाविष्ट होते हैं। यहाँ डा. वानखेडे का प्रस्तुत दृष्टिकोण व्यापक है। डा.प्रभाकर माण्डे अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते है - ''दलित या ऐसे व्यक्तियों का समूह जिनका मनुष्य के नाते जीने का हक छीन लिया है, जन्म से ही जिनके हिस्से इस समाज व्यवस्था में केवल एक ही प्रकार का जीवन आया है, मानव के नाते जिनका मूल्य अस्वीकृत किया गया है, वे 'दलित' है।''[27] इसीतरह डा. सदा कन्हाडे ने 'दलित' के अर्थ की मर्यादा बताई है - ''आर्थिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से मिलकर एक सर्व समावेशक दलित वर्ग मान लिया जा सकता है। उसमें खेती में काम करने वाले मजदूर जीवनयापन के लिए कष्ट उठानेवाले तथा अस्पृश्य ही आऐंगे। शोषित ही दलित है।''

'' 'दलित' मानवी प्रगति में सबसे पिछड़ा हुआ और दबाया हुआ सामाजिक वर्ग है। 'दलित' याने अनुसूचित जाति, जमात, बौध्द सर्वहारी जनता, मजदूर, भूमिहीन, गरीब किसान, भटकनेवाली जमात, आदिवासी है।''[28] दलित की प्रस्तुत विविध परिभाषाएँ 'दलित' संज्ञा का कल तक का केवल परंपरागत हरिजन या अस्पृश्य अर्थ छोड़कर आगे बढ़ी है, ऐसा लगता है। शोषण के आधार पर दलितों का विभाजन इस प्रकार किया जाता है - सभी प्रकार के शोषित दलित, उच्च वर्णियों से शोषित, ईश्वरी न्याय, कर्मविपाक, वर्णव्यवस्था, जातिव्यवस्था से शोषित, मानवी हकों से वंचित कोई भी 'दलित' आदि।

उपर्युक्त सभी मत 'दलित' संज्ञा की अतिव्यापकता सिध्द करते हैं। यह संज्ञा विशिष्ट जाति, वर्ण, धर्म और स्थान की श्रृंखला में बध्द न होकर समस्त विश्व में जहाँ जहाँ शोषित, वहाँ वहाँ पर लागू होती हैं। 'दलित' के अर्थ और व्याप्ति के संदर्भ में जो मतमतान्तर मिलते है, वे संगोष्ठियों और दलित साहित्य सम्मेलनों के अवसरपर व्यक्त हुए है। अत: मैं भी इन मतों से सहमत हूँ। दलित शब्द की व्याप्ती आज प्रसार माध्यम तथा समाचार पत्र आदि भी स्वीकार कर चुके हैं। परंतु इस शब्द का प्रयोग भारत में लगभग 1919 को आरंभ हुआ। पिछडा वर्ग आयोग की रिपोर्ट में पिछड़ा वर्ग इस शब्द का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया गया है कि ''ब्रिटीश सरकार

के शासन के दौरान अखिल भारतीय स्तरपर दलित वर्ग के लिए अनेक सरकारी निकायों में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था तथा उसी अनुरुप 1991 में सरकारी भाषा में दलित वर्ग सर्वग्राही शब्द बन गया था। जिसमें अनुसूचित जाती, अनुसूचति जनजातियाँ तथा अन्य पिछड़े वर्ग के लोग शामिल थे। दलित शब्द शूद्रों के लिए प्रयुक्त होता था। सर्वप्रथम फ्रेंच भाषा और बाद में अंग्रेजी शब्द 'डिप्रेस्ड' का उपयोग सरकारी भाषा में इस वर्ग के लिए किया गया था, जिसका हिंदी रुपांतर दलित शब्द के रुप में आया तथा डिप्रेस्ड क्लासेस का अर्थ दलित के रुप में सरकारी भाषा में अंगीकृत किया गया।

दलित शब्द एक व्यापक शब्द है। आधुनिक शूद्र समाज का बहुत बड़ा हिस्सा दलित संज्ञा में समाविष्ट है। समाज में प्रचलित धारणाओं के अनुसार तथा शब्दकोशों के अनुसार दलित वह लोग है जिनका दलन किया गया हो, जिन्हें रौंदा गया हो, कुचला गया हो। आदिकाल में मानव विभिन्न दलों में विभक्त था, जिन्हें समूह, टोली, टुकड़ी, गिरोह, जत्था, आदि पर्यायवाची नामों से भी जाना गया था। प्राचीन काल में कबिलों का शासन था और यही कबिले ही दल कहलाते थे। भारतीय गणतंत्रीय परिवेश में इनको गण भी कहते थे। दल और गण शब्द कोशों की दृष्टि से वे एक ही है। दलित शब्द में हमें दल संज्ञा का आभास अधिक दृष्टिगत होता है। हमारी धारणा है कि दल से ही दलित शब्द बना और प्रचलित हुआ। वर्तमान में अनेकों सामाजिक इकाइयों और राजनैतिक दल की विचारधारा के लोग एकसूत्र में बँधकर चुनाव लड़ते है या संस्था बनाते है। उनमें भी दल शब्द का महत्व दिखाई देता है, जैसे जनता दल, समाजवादी दल, सेवादल आदि। ठिक यही धारणा दल से बने 'दलित' शब्द में निहीत है। दलित शब्द दल से बना है और दलों का संगठित नाम दलित शब्द है।

भारतीय दलित साहित्य अकादमी के राष्ट्रीय अध्यक्ष डा.सोहनपाल सुमनाक्षर दलित शब्द का अर्थ सर्वहारा वर्ग की चीत्कार के रुप में स्वीकार करते है। समाज और साहित्य में दलित शब्द महत्वपूर्ण है। दलित शब्द मूक नहीं है। वह अपनी परिभाषा स्वयं उद्‌भाषित करता है। दलित वह है जिसका दलन किया गया हो। दलित शब्द प्रेरणा और विद्रोह का पर्यायवाची

है। दलित शब्द का एक इतिहास है। वह सामाजिक दर्पण है। सर्वहारा वर्ग की चीत्कार है। दलित शब्द अपनी अस्मिता, स्वाभिमान और अपने गौरवमयी इतिहास पर दृष्टिपात करने को बाध्य करता है कि हम कौन थे? क्या थे? और क्या हो गए? यशस्वी कवी श्री ओम प्रकाश वाल्मिकी ने दलित शब्द को परिभाषीत करते हुए कहा है - "दलित शब्द भाषावाद, जातीवाद और क्षेत्रवाद को नकारता है और पूरे देश को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करता है।"[29]

दलित - 'दलित' शब्द की दुन्दुभी हर क्षेत्र में बज रही है। डा.आनंद वास्कर मानते है की, "आजकल हर क्षेत्र में 'दलित' शब्द की दुन्दुभी बज रही है। समाज एवं राजनीति में उसका बोलबाला बढ़ता ही जा रहा है। इसी शब्द से संबंधित मराठी मे 'दलित साहित्य' संज्ञा चर्चा का ही नहीं, बल्कि विवाद का विषय बन चुका है। दलित साहित्य 'सर्वश्रेष्ठ साहित्य है' से लेकर 'दलित साहित्य' साहित्य ही नहीं है, यहाँ तक कहनेवाले आलोचक अपने-अपने मत की पुष्टि करते जा रहे है। इतनाही नहीं, अपितु दलित साहित्य का वास्तविक महत्व एवं पाठकों में उसकी बढ़ती हुई रुचि को देखकर कहते है कि दलित साहित्य वाकई अच्छा है, लेकिन उसमें कुछ त्रुटियाँ हैं। दलित साहित्य में त्रुटि एवं कमजोरी को महसूस करनेवाले, उसके महत्व से तो अवगत हो चुके है, फिर भी वे उस साहित्य को कलावाद के मापदंडों से कसकर सीमित दायरे में बंद कर देना चाहते है। ओमप्रकाश वाल्मिकी ने "दलित साहित्य को दल एवं समूह का साहित्य मानकर सर्वहारा वर्ग को साहित्य में उठाने का साहित्यिक प्रवास कहा है।"[30] वास्तविकता तो यह है कि दलित साहित्य नवोन्मेष की प्रक्रिया का आज केवल अंकुर है। वह धीरे-धीरे विकास की ओर अग्रेसर हो रहा है। उसको इस शैशवावस्था में ही किसी मापदंडों की श्रृंखलाओं से जकड़ने की कोशिश करना उस साहित्य का हनन ही नहीं बल्कि समस्त साहित्य के विकास पथ को अवरुध्द करना ही है। 'ब्लैक लिटरेचर' तथा समान्तर साहित्य या 'दलित' साहित्य जैसे क्रांतिकारी नए-नए शब्दों का प्रयोग साहित्य के क्षेत्र में हो रहा है। यदि तीव्र गति से परिवर्तित होनेवाला साहित्य अपना वही पुराना मुखौटा धारण करे तो वह अविकसित रहेगा। आज कल 'दलित' शब्द को लेकर साहित्य के क्षेत्र में काफी चर्चा चल

रही है। विशेषकर मराठी साहित्य के अंतर्गत यह 'दलित' संज्ञा विशेष स्थान पाकर उसका एक अंग बन रही है। आज तक यह संज्ञा एक ही स्वरुप या अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। विविध शब्द कोशान्तर्गत इसके अर्थपर प्रकाश डालकर उसे स्पष्ट किया है।

दलित शब्दान्तर्गत समाविष्ट आशय के अनुसार कुचले हुए, शोषित जनों की जीवन कहानी उतनी ही प्राचीन है, जितनी भारतीय हिंदु संस्कृती पुरातन है। समाज रुपी शरीर में सबसे ऊँचा स्थान ब्राह्मण का है। ज्ञान-दान उसका काम है। उसके निम्न सेवक है। रक्षक क्षत्रिय और उससे निम्न कृषक वैश्य है और सभी के नीचे तल में आधारभूत है शूद्र, जिसका जीवन कार्य सभी की सेवा ही है। शूद्रों से भी गए बीते हैं अतिशूद्र। ऊपर के तीन सोपानों के बोझ से, शोषण से शूद्रों और अतिशूद्रों का शोषित, लांछनीय, निरीह और बहिष्कृत जीवन परिचय, मनु स्मृती ग्रंथ में, जो हिंदुओं के समस्त धार्मिक ग्रंथों की रीढ़ है।

''ब्राहमणस्य तपो ज्ञान क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैरस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्।''

''ब्राह्मण का ज्ञान यही तप, क्षत्रिय का रक्षा यह तप, वैश्य का व्यापार और ब्राह्मण-सेवा यहीं शूद्र का तप है।''

मनुप्रणित इस सामाजिक सूत्र में शूद्र-अतिशूद्र, कमजोर, शोषित और सबसे दबाया हुआ एक वर्ण है, एक वर्ग है, जिसका सामाजिक स्तर अन्य वर्णों या वर्गों के सामाजिक स्तर से ऊपर उठा नहीं। इसलिए इन्हें दलित साहित्य की कोटि में रखने में कोई कठिनाई नहीं है। भारत में नीच पुकारे जानेवाली करोडों अछूतों की शताब्दियों पुरानी दासता और दुर्दशा को देखकर ही उर्दू के प्रसिध्द कवि डॉ. इकबाल ने लिखा था -

आह शूद्र के लिए हिन्दुस्तां गम खाना है
दर्दे इनसानी से इस बस्ती का दिल बेगाना है।

प्राचीन काल में सामाजिक जीवन में बहिष्कृत, निर्दलित जो लोग थे वे तो शूद्र-अतिशूद्र ही थे। उनके जीवन को ऊपर उठाने का मौका नहीं दिया गया। शूद्रों में निर्वासित और अनिर्वासित ऐसे दो प्रकार नजर आते है। अनिर्वासित शूद्र मन्दिर प्रवेश या रामायण, महाभारत, पुराण आदि के श्रवण से भक्तिमार्ग के द्वारा आत्मोन्नति साधने के लिए मुक्त थे, परंतु निर्वासित शूद्रों को बहिष्कृत किया जाता था। इन्हें ही बाद में दलित (अस्पृश्य) नाम प्राप्त हुआ है।

**दलित का व्यापक अर्थ :-**

इस अर्थ में उन्हें दलित माना है, जिनकी कोई विशेष जाति नहीं है। जाति को महत्व न देकर मनुष्य की पतितावस्था, दुरावस्था तथा उसकी लाचारी और शोषण को देखा जाता है। इस व्यापक अर्थ में केवल गरीब और अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जमातें ही दलित नहीं है, परंतु इनकी भाँती दयनीय और कष्टमय जीवन बितानेवाले सभी मजदूर, किसान, नौकर, नारी, भूमिहीन, बेघर जैसे सभी लोग जो आर्थिक विपन्नावस्था से मनुष्य की तरह सन्मान से जी नहीं सकते वे सभी 'दलित' है। 'दलित' के अर्थ और व्याप्ती के संदर्भ में मतान्तर है। 'दलित' याने हीन, तुच्छ, तिरस्कृत, गतजन्म का पापी और इहलोकी, दुःखी, दरिद्री अपमानित जिसे कुछ इतिहास नहीं, जिसके पुरखों को मंदिर अथवा ग्रंथों में पूजनियता मिली नहीं, ऐसा मान लिया हैं। बागूल ने ऐसे दलित को एक शक्ति के रुप में देखा है, जो वर्ण व्यवस्था और समग्र वैचारिक व्यवस्था को उध्वस्त करना चाहता है। ऐसा व्यक्ति केवल भारत का ही नहीं, बल्कि अमेरिका का भी हो सकता है। दलित की परिभाषा में अमेरिका में काला, गोरा, लाल, आफ्रो, आशियाई देशों में से काला, गोरा, पीला आते है। अपने देश के अस्पृश्य, आदिवासी, शोषित, पीडित आते है।

इस दृष्टिकोण में 'दलित' के अर्थ की व्यापकता विश्वात्मक है। यहाँ स्पष्ट है किसी भी रुप में किसी के भी द्वारा शोषितजन 'दलित' है। धन, धर्म, कर्म, वर्ण, देश, वंश, कुल, सत्ता, पद, अधिकार से वंचित, अपमानित, उपेक्षित, सर्वहारा व्यक्ति को दलित माना है। इससे दलित शब्द विश्वव्यापक रुप लेता है - ऐसा लगता है।

**'दलित' का संकुचित अर्थ :-**

'दलित' संज्ञा के बारे में संकुचित या सीमित अर्थ की दृष्टि से सोचनेवालों का कहना है कि अस्पृश्य, हरिजन एवं आदिवासी ही दलित है, जिन्हें युगों से उच्चवर्णियों ने पैरोंतले कुचला हैं। उनका स्पर्श होना भी निषिध्द है। इसके बारे में प्रा.केशव मेश्राम का विचार है हजारों बरस जिनपर अन्याय हुआ ऐसे अस्पृश्यों को 'दलित' कहना चाहिए। इस अर्थ के अनुसार विशिष्ट जाति जमात और हरिजन का समावेश दलित के अन्तर्गत होता है।

'दलित' शब्द का आशय वास्तव में अस्पृश्य लिया है। अंग्रेजी में (Depressed Classes) यह जो शब्द प्रयोग है, उसका उपयोग अस्पृश्य जातियों के अर्थ में होता है। अंग्रेजी के (डिप्रेस क्लास) के लिए मराठी में 'दलित' शब्द प्रयुक्त हुआ। डॉ. ॲनी बेजैंट और बॅनर्जी ने अस्पृश्यों को 'डिप्रेस्ड क्लास' के रुप में सम्बोधित किया। 'डिप्रेस्ड क्लास' के अन्तर्गत ऐसा मनुष्य आता है जिसे कुचला गया तथा जिसका स्पर्श तक अपवित्र माना है। दलित के अर्थ और व्याप्ति के संबंध में जितने भी मत देखे गये है, वे सब एक ओर रुढ़ि परंपरा, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों पर, तो दूसरी ओर निम्न अस्पृश्य जातियों पर आधारित है। 'दलित' के आशय को लेकर अलग-अलग भ्रम है। दलितोध्दारक डा.बाबासाहेब आंबेडकर ने 'Who were shudras?' नामक ग्रंथ लिखकर ब्राह्मणी तत्वज्ञान का वास्तविक रंग स्पष्ट किया है। इसके संदर्भ में शंकरराव खरात लिखते है - शूद्र, अस्पृश्य, आदिवासी, विमुक्त जमातें और भटकनेवाली जमातें एक ही सूत्र में गुंथी हुई होकर वे जन्म, जाति, व्यवसाय, परंपरागत रुढ़ि और धर्म ग्रंथोंद्वारा दूर रखी गई है। इसलिए 'दलित' संज्ञा की व्याप्ती में डा. बाबासाहेब आंबडेकर की कसौटियों के अनुसार 'शूद्रों का वर्ग' भी आता है। इन शूद्रों में ही आज के पिछड़े हुए वर्ग का समावेश हो सकता है।

डा. बाबासाहेब आंबेडकर ने 'दलित' शब्द की व्याप्ती निश्चित करते समय Depressed Classes, Scheduled Castes, Harijans Servile Classes आदि शब्दों का प्रयोग किया हैं। अस्पृश्य वर्ग के अर्थबोध के लिए डिप्रेस्ड क्लासेस, शेड्युल्ड कास्टस्, हरिजन

और गुलाम जैसा (दास) वर्ग आदि अलग-अलग नाम प्रयुक्त किए है। अस्पृश्य वर्ग के लिए ये सभी नाम अधिकृत और अनाधिकृत रुप में समय-समयपर प्रसंगानुरुप प्रयुक्त किए है। गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार 'शेड्युल्ड कास्टस' ऐसा शब्द प्रयोग है, परंतु यह शब्द प्रयोग सन 1935 ई. के बाद उपयोग में आया। इसके पूर्व 'हरिजन' ऐसा गाँधी कहते और सरकार की तरफ से 'डिप्रेस्ड क्लासेस' ऐसा कहा जाता था। 'Untouchables' के अंतर्गत सभी अस्पृश्य या दलित समाविष्ट होते है।

संकुचित अर्थ में 'दलित' शब्द का संक्षेप में आशय - 'दलित' (Untouchables) शब्द से हिन्दु जाती व्यवस्था का बोध होता है। चमार, मेहतर, भंगी जैसी उपजातियों को यह शब्द अपने निकटतम कर लेता है।

'दलित' शब्द से हिन्दु जाति व्यवस्था एवं लोगों के समूह का अर्थबोध होता है।

'दलित' शब्द विशिष्ट वर्ग का वाचक है। इससे उपेक्षित जातियों का परिचय होता है।

'दलित' शब्द जातिभेद दिखाता है। अन्याय-अत्याचार की स्थिति दर्शक यह शब्द है।

'दलित' शब्द जाति-भेद निर्मुलन अवस्था की ओर न ले जाकर हिन्दु समाज व्यवस्था को जाति व्यवस्था की ओर ले जाता है।

'दलित' यह शब्द कल और आज के 'दलित' (अस्पृश्य) को दिखाता है। कल के विद्रोही और क्रांतिकारी 'दलित' का आशय इस 'दलित' के गर्भ में कहाँ तक छिपा है, यह देखना भी जरुरी है।

'चेतना' का अर्थ जागृती है, अपनी अस्मिता की रक्षा करना हैं। साहित्य के माध्यम से दलित जीवन की व्यथा को वाणी देने का कार्य साहित्यिकारों ने किया है। चेतना सजीवता का लक्षण है। डा. मोहनलाल कपूर ने - ''चेतना को मानसिक अवधान माना। जिसके अंतर्गत सविवेक जागरुकता, अनुभूति, मनोविज्ञान, संवेदना आदि विशेषताएँ आती

है।''[31] साहित्य में दलित जागृती एवं चेतना के दर्शन होते है। परंपरा से हटकर दलितों का जीवन साहित्य में चित्रित होने लगा। हिंदी साहित्य में आदिकालीन सिध्दनाथ साहित्य, भक्तिकाल के कबीर, रैदास की रचनाएँ जातीयता का विरोध करती है। आधुनिक काल में शोधग्रंथ, कथा, कविता, नाटक के रुप में दलित साहित्यपर प्रकाश डाला गया है। डी. सी. दिनकर की 'स्वतंत्रता संग्राम में अछूतों का योगदान', एस्. आर. विद्रोही की 'दलित दस्तावेज', द्रोपदी हरित की 'हमें जिनपर गर्व है', आदि पुस्तके महत्वपूर्ण हैं। सरस्वती पत्रिका में हिराडोम की 'अछूत की शिकायत' कविता महत्वपूर्ण है।

भारतीय समाज व्यवस्था धर्मपर आश्रित रही है। उच्चनिचता, जातीयता का प्रभाव है। डा.बालकृष्ण गुप्त का कथन है - ''समाज में अछूत की मान्यता तीन बातें पर आधारित है 1) खानपानसंबंधी 2) विवाहसंबंधी, 3) मंदिर, उत्सव आदि।''[32]

प्रेमचंद दलित साहित्य के केंद्र रहे। दलित जीवन उनका चिंतन का विषय रहा। ''प्रेमचंद ऐसे पहले साहित्यकार है, जिन्होंने समाजवादी, सुधारवादी, अवधारणा को व्यापक सुधार देने के लिए समाज के दलित और शोषित वर्ग की वास्तविक स्थिति को प्रकट किया।''[33] प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रय', 'रंगभूमी', 'कायाकल्प', 'गोदान', निराला के 'कुल्लीभाट', उग्रजी की 'बुधुआ की बेटी', भगवतीचरण वर्मा की 'भूले बिसुरे चित्र', रांगेय राघव के 'कब तक पुकारुँ', जगदीशचंद्र की 'धरती धन न अपना', नागार्जुन का 'दु:खमोचन', शिवशंकर शुक्ल की 'मोंगरा', राकेश वत्स की 'जंगल के आसपास' आदि कई रचनाएँ ऐसी हैं जिसमें दलित जीवन, उनकी चेतना जागृतिपर प्रकाश डाला है।

**6) दलितों की वर्तमान काल की स्थिति :-**

स्वातंत्र्यपूर्व काल में दलितों का जीवन सोचनीय था। परकियों और उच्चवर्णीय स्वकियों से उत्पन्न विरोधी वातावरण में समाज परिवर्तन का बेड़ा हाँकना आसान नहीं था। शोषक, अन्यायी, रुढ़िप्रिय उच्च वर्गपर प्रहार करने के लिए उनमें से कई विचारक, समाज

सुधारक पैदा हुए। उन्होंने दलितों के शोषण के लिए कारण बने उच्च वर्गोंपर चोट करके उनकी हरतरह से आलोचना की और दूसरी ओर दलितों को उनके अधिकारों से परिचित कराने के लिए उन्हें जगाया। उन्हें शब्द प्रमाण नहीं, बुद्धी प्रमाण को अपनाने के लिए प्रवृत्त किया। उन्हें यह भी सिखाया की जाति-भेद, वर्ण-भेद, उच्च-निच का निर्माता ईश्वर नहीं बल्कि मतलबी मनुष्य ही है। समाज सुधारकों एवं महान विभूतियों के समाज सुधार का पथ निर्विघ्न नहीं था। स्वकियों से उन्हें भला-बुरा सुनना पड़ा। ब्राह्मण-द्वेष्टा, धर्म-द्वेष्टा जैसे आरोप सहन करने पड़े। डा. बाबासाहेब आंबेडकर, महर्षी कर्वे, महात्मा फुले, महात्मा गांधी आदि का कार्य महत्वपूर्ण है। 15 ऑगस्ट 1947 ई. को भारत स्वतंत्र राष्ट्र बना। डॉ. आंबेडकर के जीवन में धर्मपरिवर्तन ऐतिहासिक घटना थी। उन्होंने सन 1935 में अपने धर्मपरिवर्तन की जो घोषणा की थी उसे सन 1956 ई. मे बौद्धधर्म की स्विकृति से पूर्ण किया। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर की भाँति कर्मवीर भाऊराव पाटील ने इस काल-संक्रमण में शिक्षा के बट-वृक्ष की छाया में दलितों का उध्दार किया। दलितों की दासता से डा.बाबाहसोब आंबेडकरजी का मन पीड़ित था। उसी प्रकार की पीड़ा अन्य नेताओं के मन में कभी नहीं उठी। स्वातंत्र्यपूर्व काल में कालानुरुप जन-जागरण के लिए अनेक समाज सुधारक निर्माण हुए। उन्होंने मतलबी, स्वार्थी उच्च वर्गीय जनों का पर्दाफाश करके दलितों में स्वत्वभाव जगाया। दलितोध्दार का कार्य अत्यंत प्रतिकुल था। स्वतंत्रता के पश्चात और राज्य सरकारने दलितोध्दार को प्रोत्साहन देने के लिए समय-समय पर अनेक कानून पारित किए। पिछड़ी हुई जातियों और आदिम जातियों की आर्थिक कमजोरी जानकर उनके बच्चों की महाविद्यालयीन शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियों का प्रबंध बड़े पैमानेपर किया गया। यह एक उद्धार की सिडी रही।

समाज में अधिकारों की प्राप्ती के साथ उनके उपयोग का ज्ञान भी अवाच्छनीय नहीं है। स्वरक्षा के लिए केवल हथियार की उपलब्धि पर्याप्त नहीं है, अपितु उसके साथ उसके उपयोग की कला भी अवगत होनी चाहिए। मृतप्राय किसी शरीर को केवल बाह्य आधार पर कहाँ तक खड़ा किया जा सकता है। जब बाह्य आधारों के साथ-साथ उनमें आंतरिक ताकद

उत्पन्न होगी, तब वह चेतनामय बनेगा। दलितों को अपने उद्धार का प्रयत्न स्वयं करना चाहिए। दलित जागरण के साथ-ही-साथ संगठ़न भी महत्वपूर्ण है। तात्पर्य यह है कि दलितों को अपने उध्दार का मार्ग स्वयं ढूँढना चाहिए और इसलिए उनका संगठन होना चाहिए। प्राप्त हालत में दलितों को नायक बनाकर, किसी के सामने हाथ न फैलते हुए, अपने बलबूतेपर स्वउद्धार का यज्ञ कार्य करना चाहिए जिसमें उनके सर्वस्व का समर्पण हो सकता है। आज जाति बंधन, धर्मबंधन तोड़ने के प्रयास में मनुष्य स्वयं इन बंधनों में बंधा जा रहा है। इस स्थिति में दलितों को अपने ज्वलंत इतिहास का स्मरण होना चाहिए अन्यथा इसके अभाव उनके लिए वर्तमान मनुयुग से भिन्न नहीं होगा।

वर्तमानकाल में दलितों में परिवर्तन हो रहा है। इसमें दलितों के हितों की रक्षा, सामाजिक उन्नति, समान अधिकारों की प्राप्ती आदि के लिए प्रबंध किया गया है। भारतीय संविधान के अनुसार सन 1950 ई. में अस्पृश्यता नष्ट की गई। शिक्षित, बेकार, दलित व्यक्ति को व्यवसाय के लिए बँकों से कर्ज देने की व्यवस्था की गयी। नौकरियों में आरक्षण रखकर दलितोध्दार का कार्य किया। इसप्रकार सरकारी उपक्रमों से आज का दलित उत्थान की ओर बढ़ रहा है। साहित्यिकार समाज की नब्ज होता है। अत: जो समाज या राष्ट्र जितना सुसंस्कृत होगा उसका साहित्य भी उतना ही संस्कारीत होगा। समाज के रंग ढ़ंग और दु:ख को वह अपनी कलम से चित्रित करता है। एक तरह से जीवन की समग्र व्याख्या साहित्य में सम्मिलित रहती है। आज साहित्य में दलितों की वर्तमानकालीन स्थिति का अत्यंत सूक्ष्मता की दृष्टि से चित्रण हो रहा है। दलितों में धर्मपरिवर्तन से वैचारिक प्रतिक्रिया अवश्य हुई। जिसमें दलित मुक्ति संघर्ष का नया धर्म, नई संस्कृती, नया इतिहास और नया साहित्य प्राप्त हुआ। दलितोध्दार के रुप में भी धर्मपरिवर्तन को देखा जाता है। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरजी ने दलित संगठन शक्ती के बलपर दलितों में चेतना जागृति लाने काय कार्य किया। शाहूमहाराज की सहाय्यता से कार्य आगे बढ़ाया।

डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने मनुस्मृति का प्रतिकात्मक दहन करके सनातनियों का जुल्म, जबरदस्ती, अत्याचार, शोषण और घातक रुढ़ियों पर आघात किया। इस निषेधात्मक कृति से दलितों में मुक्तजीवन की अनुभूति के लिए चेतना उत्पन्न हुई। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरने 'प्रथम गोलमेज परिषद' में भारतीय दलितों का प्रतिनिधित्व करके दलितों की माँगे पेश की। इस तरह द्वितीय गोलमेज परिषद में भी उन्होंने अपनी कुछ शेष माँगे पेश की। इसको वे अपना अधिकार समझते थे। उन्होंने कालाराम मंदिर प्रवेश सत्याग्रह, महाड सत्याग्रह, रामकृष्ण प्रवेश सत्याग्रह आदि से रुढ़िप्रिय हिंदु समाज को दलितों की बहिष्कृत जिंदगी का नग्न यथार्थ रुप दिखाकर उनके लिए समान हकों की माँग की। उच्च वर्णीय सनातनी हिंदु मन को दलितों की अनंत यातनाएँ, दर्दभरी पशुवत हालतपर विचार करके भेद-भाव, उच्च-निच, जाँत-पात की नीति का त्याग करने के लिए उन्होंने कई बार ललकारा, पर यह भेद नीति समाज का स्थायी अंग बनकर ही रही। इसलिए जो धर्म न्याय नहीं करता उसे त्याग देने का विचार शुरु हुआ। 1935 ई. में उन्होंने अपने धर्मांतर की ऐतिहासिक घोषणा की , 'मैं हिंदु रुप में जन्मा हूँ, हिंदु रुप में नहीं मरुँगा। यह कथन उनकी मर्म व्यथा स्पष्ट करने में सफल रहा है।

**निष्कर्ष :-**

हरिजनों ने सवर्ण हिंदुओं के हाथो बड़े अत्याचार सहे है किंतु हिंदु धर्म का परित्याग करके ये अपनी समस्याओं को हल नहीं कर सके। सवर्ण हिंदुओं की उपेक्षा और अत्याचारों के कारण बहुत से हरिजन ईसाई या बौध्द होते जा रहे है। अब समय आ गया है कि उन्हें मानव समझा जाए और उनके अधिकार उन्हें दिए जाए जिससे कि वे लोग सम्मानपूर्वक जी सके। जातिसूचक नामों का प्रयोग बंद करके उनके प्रयोग करने पर प्रतिबंध लगाना चाहिए। यह भेदनीति हमारे राष्ट्रीय और भावात्मक एकता में बाधक हो रही है। सामाजिक असमानता का एक मुख्य कारण जातीयता है। सरकारी विकास योजना, दलितोध्दार का कार्य करनेवाले सामाजिक संगठन, समाजसेवी संस्था, व्यक्तियों के सहयोग से दलित उध्दार हो रहा है। परंतु

जब तक स्वयं दलित जागृत नहीं होता, तब तक सही विकास नहीं होगा। यह जब होगा तब यह कहा जाएगा ''जाग उठा इन्सान''।

**7) दलितोध्दार का कार्य :-**

प्राचीन काल से ही वर्ण व्यवस्था हिंदु समाज की आधारशिला रही है, किंतु उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि समाज की सर्वाधिक सेवा करनेवाला वर्ग हमेशा से ही पिसता रहा है इसलिए उसे हेय तथा अछूत समझा जाने लगा। उसे आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक अधिकारों से वंचित रखा गया। उसका मंदिरों में प्रवेश निषेध हो गया। वह नाम मात्र हिंदु रह गया। परिणामत: ईसाई मिशनरियों ने इससे लाभ उठाया और अनेक अछूतों को अपने संप्रदाय में शामिल कर लिया। समाज सुधारकों ने इस भयंकर परिणाम को देखा और उनके उद्धार का बिड़ा उठाया। गाँधीजी ने स्वयं इसके लिए हरिजन आंदोलन चलाया।

भारत में दलितों की हीनावस्था में सुधार एवं उसके उध्दार का कार्य चल रहा है। स्वातंत्र्यपूर्व काल में दलितोध्दार और दलित जागरण का कार्य शुरु हुआ तथा स्वातंत्र्योत्तर काल में भी दलितोध्दार का कार्य चल रहा है। प्राचीनकाल से भारतीय संस्कृति में दलितों को बहिष्कृत और अस्पृश्य माना गया है। दलितों का ईमानदारी से, निष्काम भाव से समाजसेवा एकमात्र कर्तव्य था। कर्म दलित करते है मगर फल और ही लेता था। उच्चवर्णियों द्वारा अपनी प्रतिष्ठा, श्रेष्ठता की रक्षा के लिए छूत-अछूत, उच्च-नीच, पाप-पुण्य जैसे विचारों का आधार लिया गया। दलितों का पशुतुल्य, अमानवीय और बहिष्कृत जीवन बना था। दलितों के दैन्य का कारण हिंदु धर्म ही है। जिसके सहारे हिंदुओं ने विविध जातियों को वंशपरंपरागत अस्पृश्य समझा गया। ऐसे जो दलित है उनकी संख्या बहुत है। जो समाज में उपेक्षित रुप में विद्यमान है। दलितों के ऐसे अन्यायपूर्ण जीवन को आंबेडकर ने वाणी दी। हिंदु लोग उन्हें स्पर्श करने से अपवित्र होते है वे शुध्दीकरण विधि अपनाकर शुध्द हो सकते है, किंतु अस्पृश्यों को शुध्द कर देने का कोई साधन नहीं था। वे जन्म से ही अपवित्र थे तथा जन्मभर अपवित्र ही रहते है, उसी

अपवित रुप में ही मरते है। वे जिन बच्चों को जन्म देते हैं, वे भी अपवित्र ही कहलाते है। वंशपरंपरागत रुप से कलंक की यह बात चली आयी है। दलितों के लिए अपनी हीनावस्था से ऊपर उठ़ाने का कोई रास्ता नहीं। इनके भाग्य में नारकीय यातनाएँ लिखी है।

स्पृश्य अस्पृश्य भेद से दलितों का प्राचीन काल से ही शोषण हो रहा है। दलितों को अपनी छाया ब्राह्मणपर न पड़े इसका ख्याल रखना पड़ता था। शोषक-शोषित, मालिक-सेवक, धनिक-गरीब, उच्च-नीच का भेद भारत जैसे देश में ही नहीं है तो इस पृथ्वीतलपर ऐसी विषमता सर्वत्र विद्यमान है, परंतु इसका रुप भिन्न-भिन्न है। अमेरिका और आफ्रिका में काले गोरे का भेद इस बात का प्रमाण है। दलितोंपर जब-जब अत्याचार, अन्याय हुआ तब-तब उनके द्वारा मुक्ति के लिए आंदोलन हुए। विद्रोह का ज्वालामुखी धधक उठा और वे न्याय, सम्मान, समानता के अधिकारों की माँग करने लगे। ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी अपनी लष्कर में दलितों को प्रवेश दिया। यह घटना दलितों के सामाजिक जागरण के लिए उपयुक्त रही। दलितोध्दार के इतिहास में प्रोटेस्ट धर्मोपदेशकों का कार्य महत्वपूर्ण है। उन्होंने भारत में 15 वी सदी में दलितोध्दार के प्रश्न की ओर ज्यादा ध्यान दिया। स्वातंत्र्यपूर्व काल में रुढ़ियों एवं उच्चवर्णियों के विरोध में जाकर कई समाज सुधारकों ने समता तथा स्वातंत्र्य के लिए आंदोलन किए।

स्वातंत्र्यपूर्व काल में दलितोध्दार का प्रश्न उठा था। शोषक, सबल, अन्यायी, रुढ़िप्रिय, स्वार्थी वरिष्ठ वर्गपर प्रहार करने के लिए उनमें से कुछ विचारक, समाज सुधारक आगे आए। उन्होंने दलितों के शोषण की आलोचना की। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर की भाँति कर्मवीर भाऊराव पाटील ने इस संक्रमण काल में शिक्षा के वट वृक्ष की छाया में दलितों का उध्दार किया। दलितों के हितों की रक्षा करने और सामाजिक उन्नति के साथ समान अधिकारों की प्राप्ति के लिए कानुनों का प्रबन्ध किया गया। संविधान के अनुसार धर्म, वंश, जाति और लिंग के आधारपर किसी भी नागरिक के संबंध में भेद करना अपराध माना गया। दुकान, सार्वजनिक उपहारगृह, कुएँ, तालाब, मंदिर सभी के लिए खुले किए गए। संविधान धारा 17 के

अनुसार अस्पृश्यता नष्ट की गयी। इस प्रकार 330 और 332 धाराओं के अनुसार पिछड़ी हुई जातियों और आदिम जातियों के लिए संसद और विधान मंडल में सीटें आरक्षित की गयी। धारा 335 के अनुसार पिछड़ी हुई जातियों और आदिम जातियों के लिए नौकरियों में सीटे आरक्षित रखी। 1950 से भारतीय संविधान के अनुसार अस्पृश्यता नष्ट की गई। 1955 ई. में केंद्रीय सरकारने अस्पृश्यता नष्ट करनेवाला कानून पास किया। इसके अनुसार कानून मे दण्ड और शिक्षा का प्रबंध किया गया। इसके साथ ही मंदिर प्रवेश तथा दलित सामाजिक अन्याय निवारक कानून भी पास किए।

समाजसेवकों ने उच्चवर्गीय, स्वार्थी, ढोंगी लोगों का पर्दाफाश करके दलितों में स्वाभिमान जगाया। दलितोध्दार का यह महत्वपूर्ण अंग है। पिछड़ी हुई जातियों और आदिम जातियों की आर्थिक कमजोरी को समझकर उनके बच्चों को महाविद्यालयीन शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियों का प्रबंध किया गया। सरकारी सहायता, कानूनन सहयोग, राजनीतिक दलों की सक्रियता, समाजसेवी संस्था एवं व्यक्तियों का कार्य आदि के फलस्वरुप दलितों में चेतना जागृति पैदा हो गयी, ऐसा लगता है।

यहाँ यह स्पष्ट है कि धर्म के नामपर जाति, व्यक्तिविशेष के नामपर, विशेष अधिकार के सहारे दूसरों का शोषण करते थे। सामाजिक एकता के लिए यही बड़ी समस्या एवं चुनौती है। जब तक सामाजिक समानता नहीं होगी तब तक एकता एक सपना ही रहेगा ऐसा लगता है।

**8) दलित जीवन-चित्रण :-**

'दलित' शब्द एक विशिष्ट जनसमुदाय के लिए प्रयुक्त है, जो सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक स्तरपर कुचला गया है या कुचला जा रहा है। इस शब्द का साहित्य से जुड़ना इस पूरे वर्ग के साहित्य से जुड़ने की बात कहता है। इसलिए दलित साहित्य के बारे में प्रेमकुमार मणि कहते है - ''यह साहित्य उन तमाम लोगों की खुले तौरपर वकालत करता है, जो दलित है, पीडित है, शोषित है, हिंदुस्थानी परिवेश में क्षुद्र है, अतिशूद्र है और बौध्दिक शब्दावली में सर्वहारा और आम आदमी है।''[34]

यह साहित्य हरिजनों और सवर्णों की अलग-अलग स्थिति का चित्रण करता है। इनकी स्थिति का वर्णन करते हुए कहा जाता है कि जब किसी ऊँची जाति के किसी हिंदु का कोई डंगर मर जाता है तो डंगर का मालिक खुद उसे छूने में छूत मानता है और हरिजनों को उसे उठाना पड़ता है। कोई ब्राह्मण किसी हरिजन के यहाँ सत्यनारायण की कथा कहने या कोई यज्ञ कराने नहीं जाता। किसी ऊँची जाति के लिए किसी हरिजन की लड़की या स्त्री को जबरदस्ती ले जाना कोई जुर्म नहीं समझा जाता। कोई हरिजन हिंदु पध्दति से कन्यादान करके अपनी लड़की की शादी नहीं कर सकता। सरकारी अफसरों के दौरे के वक्त दूध, लकड़ी, घास और हर तरह की बेगार हरिजनों से ली जाती है, ऊँची जातीवालों से ये चीजें नहीं ली जाती। इन चीजों की कींमत अगर कोई अफसर देता भी है तो वह हरिजनों को नहीं मिलती। ऊँची जातिवालों की तुलना में उतनी ही जमीन की मालगुजारी हरिजनों से दुगनी और तिगुनी ली जाती है। इस पर भी हरिजनों को जमीन का हकदार नहीं माना जाता। जो हरिजन इस तरह के अत्याचारों का विरोध करता है, तो उनपर झूठे मुकदमें चलाए जाते हैं। रियासतों के प्रजामंडलों में ऊँची जातिवाले लोग हरिजनों को प्रजामंडल के मेंबर नहीं बनने देते और अगर बनने भी देते है, तो उन्हें चुनाव में बराबरी के हक नहीं देते। सवर्णों का आज्ञाओं को पालन नहीं होता तो गाँव छोड़कर चले जाने की धमकी दी जाती। कोई पुरुष सुनहरी, किनारी की पगडी न लगाये, रंगीन किनारी की धोती न पहने यह भी बंधन थे। किसी भी हिंदु के मर जाने पर उसके रिश्तेदारों को खबर दे, भले ही वह दूर रहता हो। हिंदुओं के शादी विवाह में बाजा बजावे यही उनका कार्य था। औरतें सोने चांदी के गहने तथा फैंन्सी लहेंगा और जाकेट न पहनें। हिंदु औरतों के बच्चा पैदा होने के समय वे दाई का काम करें। अछूतों को चाहिए कि वे बिना वेतन हिंदुओं के यहाँ नौकरी करें और जो उन्हें खुश होकर दे दिया जाय उसे स्वीकार कर लें। समाज में सवर्णो और शूद्रों के मानस भी अलग-अलग धरातलों पर रहा। यही दलित जीवन की कहानी बनी है। साहित्यिकारों ने अपने साहित्य में उसे प्रकट किया है। शिवशंकर शुक्ल का 'मोंगरा', भगवती प्रसाद शुक्ल का 'खारे जल का गाँव', नरेंद्रदेव वर्मा का 'सुबह की तलाश', राकेश वत्स का 'जंगल के आसपास' आदि उपन्यासों में इसीप्रकार के उदाहरण है।

प्रेमचंद की रचनाओं में दलितों की जीवन व्यथा रही है। 'रंगभूमि', 'ठाकुर का कुआँ', 'घासवाली', 'गोदान' आदि रचनाऐं है। निराला के 'निरुपमा' का कुमार चमार जाति का, 'कुल्लीभाट' में दलितों का, नागार्जुन के 'दु:खमोचन' में चमारका 'परती परी कथा' में चमारिन का, जगदीशचंद्र के 'धरती धन न अपना' मे हरिजन का, शिवशंकर शुक्ल के 'मोंगरा' में चमार का, 'जंगल के आसपास' में हरिजन का, चंद्रमोहन के 'एकलव्य' में अछूत जनजीवन का चित्रण हुआ है।

यहाँ स्पष्ट दलितों का जीवन, उनका होनेवाला शोषण, धार्मिक शोषण, अधिकार से वंचित जीवन, पग-पग पर अपमानित जीवन, अर्थाभाव, भूख, बेकारी, निराशा से भरी जिंदगी, रोटी, कपड़ा, मकान की समस्या, जमींदार, पुलिस, नेताद्वारा होनेवाली मनमानी, शोषण, अलग पीने के पानी की समस्या, गाँव के बाहर आवास आदि का दर्दभरा वर्णन साहित्य में हुआ है। साथ-ही-साथ अब उसमें बहनेवाली नई विचारधारा, मान्यता, संगठन, राजनीतिक जागरुकता, शिक्षाप्रसार आदि का भी चित्रण होने लगा है। इससे लगता है प्राचीन काल का लांछित अपमानित दलित अब जाग उठा है। उसमें अब चेतना जागृति, हक की भावना पनपने लगी है। यह भावी समाज व्यवस्था की निशानी है।

**9) दलित चेतना का निर्माण :-**

समाज मानव समूह का प्रतिक है। मानव अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्षरत रहता है। अपने ऊपर होनेवाले अन्याय का विरोध करता है। यही विरोध की भावना चेतना है। दलित समाज में भी आज यही भावना बढ़ रही है। परंपरागत जीवन से हटकर, अन्याय, शोषण, दमनचक्र को ठुकराकर आगे बढ़नेवाला दलित समाज आज दिखाई देता है। सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन हो रहा है। दलित समाज जीवन को वाणी देने का कार्य साहित्य में हो रहा है। सरकारी सुधार योजना, अनिवार्य एवं मुफ्त शिक्षा व्यवस्था, आरक्षण, समाज सुधारकों का कार्य, समाजसेवी संस्था तथा व्यक्तियों का कार्य के परिणाम स्वरुप चेतना बढ़ रही है।

दलितोध्दार, दलित संगठन, दलित जागरण, समानता आदि के रुप में चेतना दिखाई देती है। इससे स्पष्ट होता है कि आज दलितों में अपनी अस्मिता का एहसास हो रहा हैं। दलितों में से ही राजनीतिक नेतृत्व उभरकर सामने आ रहा है। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी स्तरोंपर यह परिवर्तन हो रहा हैं।

डॉ. आंबेडकर, शाहू महाराज, कर्मवीर भाऊराव पाटील, महात्मा फुले, महर्षि कर्वे, सयाजीराव गायकवाड, लोकहितवादी गोपाल कृष्ण गोखले आदि समाजसेवकों एवं देशभक्तों ने दलितों में चेतना जागृति का कार्य किया। आज का शिक्षित दलित अपनी अस्मिता, अपनी क्षमता को पहचान रहा है, तथा अपने समाज की सेवा कर रहा है। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए यह विद्रोह पनप उठा वही चेतना के अर्थ में परिवर्तित हुआ। महाड सत्याग्रह, कालाराम मंदिर प्रवेश, धर्म परिवर्तन, गांधी-आंबेडकर करार, सार्वजनिक स्थलपर जातीयता का निषेध, विजातीय विवाह, आरक्षक, वोट का अधिकार आदि कई ऐसी घटनाएँ रही है, जिससे यह जातियता को नष्ट करने का कार्य हुआ तथा चेतना को बढावा मिला। साहित्यिकारों ने भी अपना योगदान दिया है। हिंदी साहित्य में भी दलित-चेतना, दलितों में होनेवाला परिवर्तन, दलितों का संगठन, दलित नारी आदि पर सोचा है।

दलित शब्द किसी जाति या वर्ण का परिचायक नहीं, अपितु इसका अर्थ है पीड़ित, शोषित, वंचित या उपेक्षित मनुष्य। भारत वर्ष में दलित साहित्य का जन्म महाराष्ट्र में सन 1960 में एक रचनात्मक आंदोलन के रूप में हुआ, हालाकि इससे पूर्व दलितनाट्य, रंगमंच वहाँ जोर शोर से चल पडा था। अन्य किसी भी भाषा की तरह इस आंदोलन की प्रथम अभिव्यक्ति कविता में हुई बाद में कहानी, आत्मकथा तथा उपन्यास में इस संपूर्ण साहित्य प्रवाह को हिंदी में लाने के जो प्रयत्न हुए, उनमें समानान्तर साहित्य के आंदोलन के साथ इस साहित्य को लेकर कुछ विशेषांक प्रकाशित हुए। स्वतंत्र रुप से कतिपय रचनाओं का हिंदी में अनुवाद किया गया। 'सारिका' नामक पत्रिका का 'भारतीय दलित साहित्य' विशेषांक अप्रैल-मई 1975 इस बारे में महत्वपूर्ण है। यहीं नहीं संचेतना (मराठी दलित साहित्य विशेषांक) दिसम्बर 1992, दया

पवार कृत 'बलुत' का अनुवाद 'अछूत', डा.चंद्रकांत पाटील द्वारा मराठी से अनुदित 'सूरज के वंशधर', डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे द्वारा संपादित 'दलित कहानियाँ', गिरिराज शरणद्वारा संपादित हिंदी मौलिक रचनाओं का संग्रह 'दलित जीवन की कहानियाँ', प्र. ई. सोनकांबले की कृति 'यादों के पंछी' आदि दलित साहित्य के विकास मार्ग के मील के पत्थर है। कुछ आलोचनात्मक कृतियाँ भी निकली। जैसे अम्बेडकरी जल से: स्वरुप आणि कार्य, 'भीमराव करडक व आधर' दलित वाड:मय प्रेरणा और प्रवृत्ति आदि। उपन्यास क्षेत्र में एक से बढ़कर एक संघर्ष चेतनामूलक कृतियाँ आने लगी हैं। हिंदी में जगदंबा प्रसाद दीक्षित का 'मुरदाघर' जैसा उपन्यास इसका प्रतिनिधि उदाहरण है, जिसमें बम्बई के फुटपाथपर मनुष्य के रुप में कीड़े-मकोड़ों से भी बदतर जिंदगी जीनेवाली स्त्री-पुरुषों का कलेजा दहला देनेवाला यथार्थ चित्रण है। उसकी भाषा और कथ्य एकदम वैसे के वैसे हैं। जैसे हम देखते है। इसमें सवर्ण के दंभ अभिजात के अभिमान का विरोध, क्रान्ति, बदलाव और विद्रोह की ललकार है। इसीतरह अविनाश डोलस के मराठी 'बिन चेहरे के गाँव' में इसकी चेतना लक्षित होती है, इसका वर्णन देखिए - सौ हजारों वर्षों की दासता, गुलामी तोड़नी है हमें, बाबासाहेब के संदेश से दुत्कारना है, अछूतापन फैक देना है, यह महारकी का पेशा, आज से महारकी बंद, जोहार बंद, गाँव में रोटी नहीं माँगनी है। उस बासी रोटी के टुकड़े हमारी नसों और खून में गुलामी, लाचारी, बेबसी पनपाते हैं। देखो, देखो तुम्हारे शरीर की ओर, पीठ पेट एक हो गया है, तुम मेहनत करते हो, खेतपर, खलिहानपर, फिर भी खाने के लिए अनाज नहीं, जीते हो बासी टुकडोंपर, कुत्तों जैसा, हमें कुत्ता नहीं बनना है। यहाँ स्पष्ट साहित्य में चेतना के दर्शन होते है।

हिंदी में यह सवाल बार-बार उठाया जाता रहा है कि हिंदी में दलित साहित्य नहीं है। दलित साहित्य का अर्थ बहुजन समाज के सभी मानवीय अधिकारों एवं मूल्यों की प्राप्ति के उद्देश्य से लिखा गया साहित्य। जैसा महाराष्ट्र में डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर के अनुयाइयों ने लिखा। महीपसिंह और कमलेश्वर दोनों साहित्यकारों ने भी इस तरह के सवाल उठायें। महीपसिंहजी ने 'संचेतना' का 'मराठी दलित विशेषांक' छापा और कमलेश्वर ने 'सारिका' के

दो अंकों में मराठी दलित लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित की। इन दोनों ने ही मराठी दलित लेखक साहित्यकारों को ही इन विशेषांकों में स्थान दिया। हिंदी में ढ़ेर सारा दलित साहित्य लिखा गया और लिखा जा रहा है, किंतु वह साहित्यकारों के पास, शोधार्थी तक नहीं पहुँचा है। विश्वविद्यालयों में आज शोधकार्य हो रहा हैं। भविष्य में भी अन्य शोध कार्य होने की संभावनाएँ हैं। आज अलग-अलग अवसरों पर पत्र-पत्रिकाओं के साथ स्मरणिकाएँ आदि भी प्रकाशित की जाती हैं, जिनमें किसी न किसी रुप में दलित साहित्य प्रकाशित होता है।

असल में हिंदी में दलित साहित्य की लंबी प्रक्रिया रही है। सबसे बड़ी समस्या हैं उसे स्वीकार करने की। मराठी दलित साहित्य क्या आसानी से स्वीकार कर लिया गया था? इस पर सोचना चाहिए। आजादी के बाद के दूसरे दशक में भी कितने ऐसे महाराष्ट्र के प्रतिष्ठित लेखक, साहित्यकार, पत्रकार, नाट्यकार या समीक्षक थे जो दलित साहित्य का नाम आनेपर नाक भौंह नहीं सिकोड़ते थे। आरंभ में तो ऐसे अधिकांश साहित्यकार यही कहते थे कि दलित साहित्य होता ही नहीं। उनकी समझ में साहित्य के बीच इस तरह की विभाजक रेखा खींचना तर्कसंगत नहीं था। पर जैसे-जैसे समूचे महाराष्ट्र में दलित साहित्य मुखर होता गया, आलोचक, समीक्षक खामोश होते गए। बाद के दिनों में मराठी दलित साहित्य को स्वीकार करके ही वैसें गैर दलित समाज एवं जातियों एवं बुध्दिजीवियों ने उसे प्रगतिशील कहलवाया। इस तरह से मराठी दलित साहित्य की लहर चल निकली। जिन दिनों अपने देश के साहित्यिकारों के बीच दलित साहित्य को स्वीकार करने के लिए कश्मकश चल रही थी। देश से बाहर जर्मनी और अमेरिका में मेरठ साहित्य पर गंभीर बहस छिड् गई थी। वहाँ के विश्वविद्यालयों में शोध कार्य आरंभ हो गया। उन्हीं दिनों फोर्ड फाउण्डेशन ने इसमें रुचि ली थी।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा लगता है कि इन पिछड़े हुए लोगों में पुराने संस्कार आज भी जीवित है, तो उनमें क्रांति या चेतना की भावना कहाँ से पैदा होगी ? यह सवाल यहाँ सोचनीय है, परंतु स्वातंत्र्योत्तर काल में चेतना की विचारधारा बह रही है, ऐसा लक्षित होता है।

असल में इस तरह के सवालों को दो तरह के लोग उठाते है। प्रथम वे लोग जिन्हें संबंधित विशेष विषय से सहानुभूति है, उसके प्रति जिज्ञासा भाव है, या उनकी राय में उसपर बहस छिड़े, कुछ लिखा-पढ़ा जाए। दूसरी श्रेणी में नकारात्मक लोगों की नकार की प्रवृत्ति रही है। वैसे लोग यह सब स्वीकारही नहीं करना चाहते है। वे साहित्य में भी सनातनी मूल्यों को प्रतिष्ठित करना चाहते है, परंतु परिवर्तन की लहर का आरंभ हुआ है। हिंदी क्षेत्रों में दूसरी श्रेणी के लोग बहुसंख्या में हैं। पत्र पत्रिकाओं से लेकर प्रकाशन समूहोंपर सवर्ण जातियों के लोगों का ही दबदबा रहा है।

बौध्द धर्मपर अनेक पुस्तके लिखी गई। जिनमें राहुल सांस्कृत्यायन तथा भदन्त आनन्द कोसल्यायन का नाम लिया जा सकता है। पिछले दिनों बिहार में बौध्द गया के सवाल को लेकर सदानन्द महास्थविर की हिंदी में ही 'बुध्द गया मुक्ति' तथा प्रो. सी. सी. राय की "बौध गया का महाबोधि विहार बौध्दों का है" तथा आरक्षण के सवालपर लगभग पचास पुस्तकें छपी, जिनमें लोकायन से चार-पाँच पुस्तकें प्रकाशित हुई। दलित उत्पीडन पर बहुत सी किताबें छपी। जहाँ तक हिंदी में दलित कविता, नाटक तथा आत्मकथा आदि की बात है। इनका उल्लेख करने से पूर्व हमें यह निश्चित करना होगा कि आखिर दलित साहित्य है क्या? स्वयं दलितों के द्वारा लिखा गया साहित्य या गैर दलितों का साहित्य। दलित साहित्य जैसा हम पहले भी लिख चुके हैं। बाबासाहेब आंबेडकरी विचार के प्रति पूरी निष्ठा से लिखा गया साहित्य दलित साहित्य। प्रसिध्द कवि ओमप्रकाश वाल्मीकी का कहना है कि अगर स्वयं दलित समाज का कोई व्यक्ति वैसा साहित्य लिखता हैं जिसमें दलितों के लिए चेतना नहीं मिलती तो उसे भी दलित साहित्य नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोखकों के विचार में रैदास को ही पहला दलित कवि माना जा सकता है। रविदास का काल 1376 से 1527 था। मराठी दलित कवि। साहित्यकारों ने सच को स्वीकार करने की हिम्मत जो आजादी के दूसरे शतक में आत्मकथाओं के रुप में जुटाई थी। गुरु रविदास ने उस समय सच को सच कहा था तब दलितों के पढ़ने लिखनेपर ही प्रतिबंध था। रविदासजी

13767 A

की जाति चमार थी। इस तथ्य को उन्होंने बार-बार अपनी रचनाओं में कहा है -

नागर जना मेरी जाति विख्यात चमार

कहि रैदास खलास चमारा

उन्होंने अपनी वाणी में खुलकर अपने पेशे और जाति का वर्णन किया है।

जाके कुटुम्ब के ढेढ सभ ढोर ढोत

फिरहि अजुह बनारसी आस-पास

इसतरह रैदास को दलित चेतना का पहला कवि भी माना जा सकता है। स्वामी अछूतानंद की कविताओं को भी दलित जागरण के बीच महत्वपूर्ण कड़ी माना जा सकता है। उन्हीं के समकक्ष बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु है, उन्होंने कविता, नाटक, लेख, आलोचना, तथा अनुवाद प्रत्येक विधा में दलित साहित्य को समृध्द बनाया। कुछ कवियों ने दलितों को केंद्रबिंदु मानकर ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथा के आधारपर रचनाएँ लिखी हैं। उनमें डॉ. जगदीश गुप्त का 'शम्बूक', डॉ.रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य', नरेश मेहता का 'शबरी', सुधाकर का 'भीमचरित्र मानस' आदि में साहित्य की परंपरागत शैली में दलितों की व्यथा का चित्रण किया गया है।

हिंदी उपन्यास में दलित वर्ग के चित्रण की रचनाओं से दलितों के बीच सही रुप में चेतना उभरती है। इसका विश्लेषण करना बहुत जरुरी है। प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों में सनातन धर्मी विचारों के पोषक के रुप में किशोरीलाल गोस्वामी एवं पण्डित लज्जाराम मेहता उल्लेखनीय है। अपने उपन्यासों में उन्होंने यह बताना चाहा है कि अछूतों को अछूत बनाए रखने में ही समाज का हित है। लज्जाराम मेहता ने आदर्श हिंदु 1974 में एक मेहतर को रेल डिब्बे से बाहर इसीकारण फिंकवाया क्योंकि वह अछूत था। उन्होंने इस कृत्य की जोरदार वकालत भी की है। ऐसा नहीं की प्रेमचंद के बाद के उपन्यासकार सनातनी नहीं रहे। कुछ तो रहें हैं।

प्रेमचंद प्रथम भारतीय लेखक है जो अवर्णों और सवर्णों के बीच रोटी-बेटी का संबंध प्रस्थापित करते है। रोटी का सबंध 'कर्मभूमि' में और बेटी का संबंध 'गोदान' में

स्थापित होता है। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला के 'निरुपमा' आचार्य चतुरसेन के ''गोली'' मानवीय अधिकारों से वंचति, दास-दासियोंपर आधारित रांगेय राघव का ''कब तक पुकारुँ'', फणीश्वरनाथ रेणू का ''मैला आँचल'', यादवेंद्र शर्मा चन्द्र का 'पत्थर के आँसू', तथा हजार घोड़ों का सवार'', शिवप्रसाद सिंह के ''अलग-अलग वैतरणी'', जगदीशचंद्र के ''धरती धन न अपना'' आदि में दलित मानव की पीडा का चित्रण हुबहू मिलता है। 1975 में प्रकाशित गोपाल उपाध्याय का यथार्थवादी उपन्यास ''एक टुकड़ा इतिहास'' एक दलित महिला चंदादेवी उर्फ चनुली की संघर्ष गाथा है। अछूतों के साथ किए जाने वाले अमानुषिक अत्याचार के बड़े ही मार्मिक चित्र प्रेमचंद ने ''ठाकुर का कुआँ'', ''सद्गति'', ''घासवाली'', ''मन्दिर'', ''दूध का दाम'' आदि कहानियों में प्रस्तुत किए है।

यहाँ स्पष्ट है कि साहित्य में कभी कोई साहित्यिकार अकेला नहीं है। उसके साथ उसकी पूरी दुनिया, पूरी जिंदगी, नया यथार्थ है। यहीं स्थिति दलित साहित्य में भी है। जब कोई दलित साहित्यकार साहित्य में प्रवेश करता है, तो उसके साथ भी उसकी दुनिया आती है। उसकी पीढ़ी आती है। उसका परिवेश आता है। यह सब कुछ सामान्य साहित्यिकार से भिन्न होता है। उसे भिन्न होनाही चाहिए। प्रेमचंद का साहित्य दलित साहित्य के समकक्ष रखकर देखे तो यह अंतर स्पष्ट होता है। जहाँ तक ''मार्क्सवाद और दलित साहित्य'' की बात है, मार्क्स भारतीय समाज व्यवस्था के ढाँचे को ठीक से नहीं समझ पाये थे। बाबासाहेब आंबेडकर ने भारतीय समाज व्यवस्था का पूरा अध्ययन किया था। उन्होंने अनुभव किया कि भारत में जो सामाजिक विषमता है, उसका हल केवल आर्थिक आधारपर संभव नहीं है, बल्कि सामाजिक संबंधों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए वर्ग, वर्ण संघर्ष अनिवार्य है। इसी उद्देश से उन्होंने दलित समाज में जनजागरण किया, नवचेतना निर्माण की। मार्क्स ने सामाजिक क्रांति का कार्य श्रमिक जनता पर सौंप दिया था जब कि डॉ. आंबेडकर ने भारतीय समाज परिवर्तन का कार्य दलित वर्ग को सौंपा। लेकिन दोनों का उद्देश एक ही रहा।

यहाँ स्पष्ट है कि दलित तथा गैर दलित समाज से आए लेखक, साहित्यिकारों के बीच विभाजन करना ठिक नहीं किंतु यह समझना जरुरी है, दलितों की पीड़ा के वर्णनको दलित साहित्य कहा जाता है। विशेष रुप से स्वयं दलित वर्ग से आए लेखकों ने जो लिखा उनकी रचनाओं में अथाह पीड़ा रहीं, आक्रोश का ज्वर बारबार उफनता रहा। इसलिए वे सामाजिक विषमता के भुक्त भोगी थे। लिखने से पहले उन्होंने उस पीड़ा को सहा था, भोगा था। इसीकारण वास्तविक जीवन की छवी साहित्य में दिखाई देती है, ऐसा मुझे लगता है।

**10) निष्कर्ष :-**

प्रथम अध्याय में मैंने 'हिंदी साहित्य तथा आँचलिक उपन्यासों में दलित जीवन का चित्रण' में, साहित्य और समाज जीवन का संबंध, साहित्य समाज की परिभाषा - 'साहित्य समाज जीवन का दर्पण', समाज की निर्मिती एवं स्वरुप - 'दलित का स्थान', दलित शब्द की व्याख्या - 'चेतना का अर्थ', दलितों की वर्तमान काल की स्थिति, धर्मांतर, दलितोध्दार का कार्य, आँचलिकता का स्वरुप - व्याख्या - परिभाषाएँ, दलितों का जीवन चित्रण, दलित चेतना का निर्माण के अंतर्गत लिखने का प्रयास किया हैं।

मैंने आँचलिक उपन्यासों में दलितों के जीवन चित्रण के साथ-साथ साहित्य और समाज जीवन का संबंध कितना निकटतम है उसकी परिभाषा को स्पष्ट करते हुए साहित्य समाज का दर्पण है, दोनों का अटूट रिश्ता है यह दिखाने का प्रयत्न किया हैं। समाज की निर्मिती एवं स्वरुप के बारे में लिखते समय उसमें दलित का स्थान निश्चित रुप से दिखाकर दलित शब्द की व्याख्या को स्पष्ट करते हुए दलितों का जो समाज में आज का स्थान है उसपर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। दलितों में जो चेतना निर्माण हुई थी उसी चेतना के अर्थ को भी स्पष्ट किया है। दलितों की वर्तमानकालीन स्थिति और उन्होंने किए हुए धर्मांतर के बारे में भी विचार किया है। धर्म परिवर्तन एक सामाजिक एवं ऐतिहासिक घटना हैं। इसे भी स्पष्ट किया है। दलितोध्दार का कार्य करनेवाले मसिहाओं के कार्यपर भी प्रकाश डाला हैं। यहाँ यह स्पष्ट है, आज दलित समाज

नयी जिंदगी की तलाश कर रहा है, उनमें नयी आशा की किरण दिखाई दे रही है। आज दलित संगठन एक शक्ति के रुप में उभर उठा है। आँचलिकता के स्वरुप को निश्चित रुप से स्पष्ट किया है। आँचलिकता का एक नया आयाम जो उपन्यास साहित्य में लक्षित होता है, उस पर आधारित उपन्यासों का भी संक्षिप्त जिक्र किया है। दलितों की वर्तमान स्थिति को देखे हुए, दलित चेतना पर भी सोचा है। दलितों में चेतना का निर्माण डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने किस प्रकार किया, यह दर्शाते हुए अन्य उपन्यासकारों ने अपनी साहित्य यात्रा में चेतना का चित्रण किसप्रकार किया उसे स्पष्ट किया है।

साहित्यिकारों ने दलितों को जगाने का प्रयास किया है। दलित साहित्य ने दलित जनजीवनके सभी मूल्यों को हमारे सामने खोलकर रखा और हमें उनके जीवन से पूर्णतः अवगत करा दिया। इसे भी यहाँ पर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। दलितचेतना एवं उध्दार का एक ही साधन है वह शिक्षा। दलित चेतना में संगठन, एकता आवश्यक है। यदि उसमें राजनीतिक स्वार्थ की भावना बढ़े तो खतरा भी है। आज का शिक्षित दलित कुछ हद तक चेतित हो रहा है यहाँ सच्चाई है। साहित्यिकारों ने अपना साहित्यिक दायित्व निभाया, सेवाभावी संस्था, व्यक्तियों ने सामाजिकता की भावना को बढ़ाया, राजनीतिक नेताओं ने संगठन को सही दिक्षा दी, तो निश्चित रुप में दलित समाज का जीवन संपन्न, विकसित होगा ऐसा लगता है। दलित साहित्य सामाजिक परिवर्तन की देन है, ऐसा कहना उचित ही है।

## संदर्भ

1) राजनाथ शर्मा, ''साहित्यिक निबंध'', सप्तम संस्करण 1963, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पृष्ठ 252।

2) क्षेमचंन्द्र सुमन, ''योगेन्द्रकुमार मल्लिक; ''साहित्य विवेचन'', तिसरा संस्करण, 1963, आत्माराम एण्ड सन्ज, दिल्ली - 6

3) प्रेमचंद, ''हंसपत्रिका'', प्र.स.1932 अप्रैल, अलका प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ 40

4) सुषमा शर्मा, ''उपन्यास और राजनीति'', प्र. सं. 1976, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 25

5) क्षेमचन्द्र 'सुमन', ''योगेन्द्रकुमार मल्लिक : साहित्य विवेचन'', तीसरा संस्करण, 1963, आत्माराम एण्ड सन्ज, दिल्ली - 6, पृष्ठ 23

6) डॉ. विमल सहस्त्रबुध्दे, ''हिंदी उपन्यासों में नारी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण'', प्र. सं. 1974, पुस्तक संस्थान, कानपूर, पृष्ठ 199.

7) सुषमा शर्मा, ''उपन्यास और राजनीति'', प्र. सं. 1976, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 19

8) वही, पृष्ठ 20

9) क्षेमचन्द्र सुमन, ''योगेन्द्रकुमार मल्लिक : साहित्य विवेचन'', तिसरा संस्करण, 1963, आत्माराम एण्ड सन्ज, दिल्ली - 6, पृष्ठ 28

10) डॉ.बदरीप्रसाद, ''प्रगतिवादी हिंदी उपन्यास'', प्र. सं.1987, ओमप्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 117

11) डॉ. विश्वंभर उपाध्याय, ''साहित्य संदेश'', जनवरी-फरवरी 1958

12) डॉ. रामदरश मिश्र, ''हिंदी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा' प्र.सं.1968, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 188.

13) डॉ. रणवीर रांग्रा, ''हिंदी वाड़मय: बीसवी सदी'', (आँचलिक उपन्यास) प्र. सं. 1972, विनोद पुस्तक मंदीर, आग्रा, पृष्ठ 218

14) विजय शुक्ल, ''मधुमती'', आँचलिक परिवेश और प्रतिबध्दता, अप्रैल 1978, पृ. 33

15) डॉ. नंददुलारे वाजपेयी, ''सारिका'', 1969, पृ. 61

16) हिन्दी रिव्ह्यू मॅगझीन, 1 मई 1956 (स्वातंत्र्योत्तर आँचलिक उपन्यास - सुभाषिनी शर्मा) से उद्धृत, पृष्ठ 13

17) डॉ. ह. के. कडवे, ''हिंदी उपन्यासों में आँचलिकता की प्रवृत्ति'', प्र.स. 1978, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, पृ. 27

18) डॉ. ज्ञानचंद गुप्त, ''आँचलिक उपन्यास - संवेदना और शिल्प'', प्र. स. 1975, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 14-15

19) डॉ. एन्. सिंह, ''दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम'', प्र.सं.1996, आम प्रकाशन, बंबई, पृष्ठ 28

20) हंसपत्रिका, दिसंबर - 1999, पृष्ठ 59, 60

21) डॉ. एन्. सिंह, ''दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम'', प्र.सं.1996, आम प्रकाशन, बंबई, पृष्ठ 18

22) आदर्श मराठी शब्दकोश, प्र. नं. जोशी, 1982, विदर्भ मराठवाडा बुक, पुणे, पृष्ठ 513

23) लघु हिंदी शब्द सागर, संपा. करुणापती त्रिपाठी, संवत् 2034, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृष्ठ 439

24) डॉ. एन्. सिंह, ''दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम'', प्र.सं.1996, आम प्रकाशन, बम्बई, पृष्ठ 19

25) डॉ. बलवन्त साधू जाधव, ''प्रेमचंद साहित्य में दलित चेतना'', प्र. सं. 1992, अलका प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ 17

26) डॉ. एन्. सिंह, ''दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम'', प्र.सं.1996, आम प्रकाशन, बम्बई, पृष्ठ 20

27) डॉ. बलवन्त साधू जाधव, ''प्रेमचंद साहित्य में दलित चेतना'', प्र. सं. 1992, अलका प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ 22

28) वही, पृष्ठ 23

29) डॉ. एन्. सिंह, ''दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम'', प्र.सं.1996, आम प्रकाशन, बम्बई, पृष्ठ 20

30) हंसपत्रिका, अप्रैल 1999, पृष्ठ 88

31) डॉ. मोहनलाल कपूर, ''हिंदी उपन्यासों में चेतना प्रवाह पध्दती'', प्र.सं.1988, साकेत समीर प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 1 से 3 तक

32) डॉ. बालकृष्ण गुप्त, ''हिंदी उपन्यास सामाजिक संदर्भ'', प्र.सं.1978, अभिलाषा प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ 12

33) डॉ. सुदेश बत्रा, ''हिंदी उपन्यास बदलते परिप्रेक्ष्य'', प्र.सं.1996, रचना प्रकाशन, जयपूर, पृष्ठ 8

34) हंस, अप्रैल, 1999, पृष्ठ 89